लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक-२९
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन



Lokodaya Series Title No. 29

HINDU-VIVAH MEN
KANYADAN KA STHAN

Dr. Sampoornanand

*Bharatiya Jnanpith Publication*

Forth Edition 1970

Price Rs. 2 00



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रधान एवं विक्रय कार्यालय
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

चतुर्थ संस्करण १९७०

मूल्य २.००

सन्मति मुद्रणालय
वाराणसी-५

# भूमिका

आज से पचीस वर्ष पहले की बात है। मेरी लड़की का विवाह हुआ था, विवाह में कन्यादान भी हुआ। उस अवसर पर श्री ब्रजबिहारी राय एम० ए०, एल-एल० बी० ने, जो इस समय कौसिल ऑव स्टेट्स के सदस्य है, मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि कन्यादान मे उदात्त भावो की अभिव्यक्ति नही होती। मैंने दो-एक पुस्तकें देखी और दैनिक आज मे इस सम्बन्ध मे एक लेख भी लिखा। बात प्रायः वही समाप्त हो गयी।

परन्तु यदा-कदा एतद्विषयक विचार उठते रहे। सार्वजनिक कामो ने जम कर अध्ययन करने का अवकाश नही दिया परन्तु उधर से ध्यान हटा नही। मैं अब इस काम को पूरा कर पाया हूँ। मैंने यह प्रयत्न किया है कि किसी पक्ष के साथ अन्याय न हो। यदि मेरे अभिमत सिद्धान्त के विरुद्ध कोई प्रमाण मिला है तो मैं ने उसे जान-बूझ कर नही छोड़ा है और न कही मूल के अर्थ को तोड़ने-मरोड़ने का यत्न किया गया है।

एक अपराध स्वीकार करता हूँ। मुझे भारतीय दर्शन मे अविचल श्रद्धा है। मेरा ऐसा विश्वास है कि दर्शन केवल चित्तविलास की सामग्री नही है वरन् मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाने का श्रेष्ठतम साधन है। मेरी ऐसी निष्ठा है कि प्राचीन आचार्यो ने—ऋषियो, मनुओ, पथिकृत पूर्वजों ने—जीवन के सभी अगों को आध्यात्मिकता से ओतप्रोत बनाने का यत्न किया था, प्रत्येक मनुष्य के जीवन को व्यावहारिक वेदान्त का चल प्रबन्ध-काव्य बनाना चाहा था। उन का उद्देश्य यह था कि पदे-पदे उस एकता की अनुभूति होती रहे जो जगत् के नानात्व का धरातल है। जब

मैं कही इस आदर्श से स्खलन देखता हूँ, स्वार्थ को सिर उठाते देखता हूँ, तो मुझे सहज चिढ़ होती है। और मेरा अब तक का अध्ययन यह बतलाता है कि उस प्राचीन पथ से हम पिछले सहस्र वर्षों में ही अधिक-तर हटे हैं। विदेशी शासन ने हमारी बुद्धि कुण्ठित कर दी, हमारी आध्यात्मिक चेतना को मन्द बना दिया। परिणाम यह हुआ कि जहाँ शुद्ध सोना था वहाँ बहुत-सी मिट्टी आ गयी, पुरानी बातों के साथ प्रक्षिप्त सामग्री मिल गयी। पुराने रूप को पहचानना कठिन हो गया।

विवाह मनुष्य के जीवन का सब से महत्त्वपूर्ण काम है और यह सर्वथा उचित है कि धर्मगुरु और शासन उस की ओर पूरा-पूरा ध्यान दे। विवाह के ठीक-ठीक सम्पन्न होने पर, विवाह-जनित कर्तव्यों को यथार्थ रूप से समझ लेने पर, केवल पति-पत्नी का सुख-सौभाग्य निर्भर नही होता। कई पीढ़ियो तक उन की सन्तान और अन्ततोगत्वा समूचे समाज का हिताहित इस के साथ अनुबद्ध है। विवाह मे केवल वर-कन्या को सामने नही रखना है, अजात सन्तति और उस समाज को भी सामने रखना है जिस के वह नागरिक हैं। स्त्री-पुरुष तो यों भी साथ रह सकते हैं, आज-कल उन के मिल कर रहने और इस सहवास से उत्पन्न सन्तान को वैध बनाने के उपाय निकलते ही रहते हैं, परन्तु विवाह इस से ऊँची और व्यापक वस्तु है। कम से कम आर्य विचारको ने ऐसा ही माना था। वह संसारी समझौता नही वैदिक संस्कार है, देवो को साक्षी बना कर सम्पन्न पवित्र कृत्य है। उस को फिर प्राचीन रूप देकर दाम्पत्य को सुखी और उदात्त और जीवन को अर्थगर्भ बनाना है।

आज जिस प्रकार कन्यादान होता है उस से उस का वास्तविक उद्देश्य छिप गया है और उस के महत्त्व पर परदा पड़ गया है। उस रूप और उद्देश्य को फिर जनसाधारण के सामने लाना आवश्यक है।

लखनऊ
भाद्र कृष्ण १, २००८

—सम्पूर्णानन्द

## यह प्रकाशन

विद्वद्वर श्री सम्पूर्णानन्दजी की यह नवीनतम कृति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे अपने विषय की 'क्रान्तिकारी' रचना कहा जा सकता है। साधारणतया पुस्तक का शीर्षक देख कर पाठक सोचेंगे : "अच्छा, 'कन्यादान' के विषय मे है यह किताब ! हाँ, कन्यादान तो हिन्दू विवाह का प्राण ही है। उसी की महत्ता विद्वान् लेखक ने प्रमाणित की होगी।" पर, वास्तव मे पुस्तक का अध्ययन पाठकों को चौकायेगा और यह सोचने के लिए मजबूर करेगा कि 'कन्यादान'-जैसी भ्रामक शब्द-योजना हम शताब्दियों से आज तक क्यों वहन करते चले आये हैं ? संक्षेप मे यह कि कन्यादान से न किसी 'स्वत्व' का सर्जन होता है, न विसर्जन, न हस्तान्तरण। न ही कन्या कोई चल या अचल 'सम्पत्ति' है कि उस का 'दान' किया जाये। कन्यादान तो एक वैधानिक अलीक ( लीगल फिक्सन) है।

विवेचन शास्त्रीय होते हुए भी इस की पार्श्वभूमि विस्तृत है और दृष्टिकोण व्यापक। पुस्तक विदेशीय तथा भारतीय संस्कृति मे स्त्रियों की सामाजिक अवस्था के संक्षिप्त क्रमिक विकास की झाँकी देती है। भारतीय दर्शन और संस्कृति के प्रति अपनी अविचल श्रद्धा के बावजूद भी मान्य लेखक ने प्रायः प्रत्येक प्रासंगिक उद्धरण या मान्यता को तर्क की कसौटी पर क़सा है और संतुलित दृष्टिकोण उपस्थित करने की चेष्टा की है। जहाँ इस में वेदवर्णित सम्राज्ञी श्वसुरे भव का उल्लेख है वहाँ वाल्मीकि रचित राम-वाक्य न त्वदर्थं मया कृतः [ हे सीता ! यह युद्ध मैं ने तुम्हारे लिए नही किया ] का भी। इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य आदि को अनेक ऐसी व्यवस्थाओं का भी उल्लेख है जिन से कई स्थानों पर

दुविधा उत्पन्न हो जाती है। इन दुविधाओ का परिहार यहाँ मिलेगा।

पुस्तक देखने मे छोटी है, पर इस के पीछे ओजस्वी लेखक की दीर्घ ऊहापोह और लगभग चालीस ग्रन्थो का सन्दर्भ-श्रम है।

पुस्तक के निष्कर्ष के विषय में सभी एकमत हों, यह तो आशा नही की जा सकती, क्योकि प्रश्न से प्रश्न उठते ही है, और ऐसे विषय पर अनेक शास्त्रो के अनेक प्रमाण तथा अनेक युगो की अनेक विपरीत घटनाएँ मिलती है जिन का संकेत स्वयं लेखक ने कर दिया है। किन्तु यह निश्चित है कि पुस्तक विचारों को उत्तेजना देगी और हमें उस विचार-परम्परा से उन्मुक्त करेगी जो युग के अनुकूल नही, और जो अपनी प्राचीन विकसित संस्कृति के भी अनुकूल नही।

ज्ञानपीठ की ओर से हम मान्य सम्पूर्णानन्दजी के आभारी है कि उन्होने इस रचना के प्रकाशन का श्रेय हमे दिया। ज्ञानपीठ के संस्थापक श्रीयुत साहू शान्तिप्रसाद जैन के प्रति भी हम कृतज्ञ है कि उन्होंने विद्वान् लेखक से सांस्कृतिक चर्चा के प्रसंग मे इस रचना का पता पा कर हमारे लिए यह उपलब्ध कर दी।

पुस्तक में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है, उस के प्रति अन्य विद्वानो की प्रतिक्रिया का परिचय पा कर हमे प्रसन्नता होगी।

लखनऊ,

२५ फ़रवरी १९५४

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

# द्वितीय संस्करण

पुस्तक के प्रथम संस्करण का समाप्त होना इस बात का प्रमाण है कि कुछ लोगों ने उस को पढा। जिन लोगों ने पढ़ा होगा निश्चय ही उन के विचारों मे कुछ उथल-पुथल मचा होगा। कन्यादान-जैसी प्रचलित प्रथा को अशास्त्रीय मानने के लिए बुद्धि सहसा तैयार नही हो सकती। जो प्रथा सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है, जिस के सिलसिले मे संस्कृत के लम्बे मन्त्र पढ़े जाते है, वह शास्त्रविरुद्ध है ऐसा जल्दी विश्वास नही होता; परन्तु मैं ने जिन प्रमाणों को उपस्थित किया है उन का ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। सामाजिक बातो मे परिवर्तन एक साथ नहीं हुआ करते। कम से कम प्राचीन काल मे तो आज की व्यवस्थापिका सभाओं-जैसी संस्थाएँ नही थी जिन के द्वारा बात की बात मे नये विधानों को बना कर पुरानी प्रथाएँ समाप्त कर दी जायें। उस समय तो जो भी परिवर्तन होता था वह धीरे-धीरे ही कालगति के अनुसार होता था। किसी पुराने कानून को बदलने का प्रश्न नही उठता था। नयी टीकाएँ बनती थी जो पुराने श्रौत और स्मार्त वाक्यों की नयी व्याख्या कर देती थी। इतने से ही काम चल जाता था। कुछ थोड़ी-सी विशेष अवस्थाओं मे नयी स्मृतियों की भी रचना करनी पड़ती थी। सिन्ध पर अरब आक्रमण के बाद देवल स्मृति की रचना इस का स्पष्ट प्रमाण है। नयी टीकाओं और नयी स्मृतियों मे एक बात का पूरा लिहाज़ रखा जाता था। वह यह कि

नवीनता और प्राचीनता के बीच में गहरी खाई न बन जाये, नवीन पद्धति पर प्राचीन शैली की गहरी छाप बनी रहे। भारत मे मुसलिम राज्य के स्थापित होने के बाद ऐसा न हो सका। प्रथाएँ बदलीं, लोगों के विश्वासों, विचारों और धारणाओं मे परिवन हुए; परन्तु इन परिवर्तनों को शास्त्रीय रूप न मिल सका इसलिए वह अपने उद्‌गमस्थान से बहुत दूर जा पड़े। इसी का यह परिणाम है कि कन्यादान की प्रथा मे ऐसी बाते आ गयी जो प्राचीन आर्य विचारों से सर्वथा प्रतिकूल है। यदि मनीपियों का ध्यान इस ओर जाये तो इस का शुद्ध रूप स्थापित कर के हिन्दू विवाहपद्धति की पवित्रता की पुनः प्रतिष्ठा हो सकती है; परन्तु कन्यादान या विवाह-सम्बन्धी अन्य किसी कृति की शुद्धि तभी हो सकती है जब हिन्दू विवाह का शास्त्रसम्मत उद्देश्य स्वीकार कर लिया जाये।

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि मै ने इस उद्देश्य का जो रूप दिखलाया है वह काल्पनिक है, विवाह का मूल वस्तुतः कामचार है। निश्चय ही मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों मे काम का भी स्थान है और बहुत से लोगो के लिए विवाह इस वासना की तृप्ति का वैध साधन-मात्र है। परन्तु प्राचीन काल से ही आर्य मनीषियो ने इस सहज प्रवृत्ति को, जो मनुष्य की ही भाँति पशु-पक्षियो मे भी पायी जाती है, शुद्ध रूप देने का प्रयत्न किया। इस पर नियन्त्रण लगाये गये और इस की तृप्ति को स्वयं साध्य न मान कर दुष्प्राप्य, ऊँचे लक्ष्यो की प्राप्ति का साधन बताया गया। बार-बार यह उपदेश दिया गया है कि अर्थ और काम की खोज धर्म के नियन्त्रण मे ही होनी चाहिए। श्वेतकेतु की कथा मे ऐतिहासिक तथ्य चाहे जो हो परन्तु वह यह बतलाती है कि जिन लोगों मे उस का प्रचार था उन की दृष्टि मे निरंकुश कामचार गर्हित था और उस का नियन्त्रण श्रेयस्कर। नियन्त्रण की मात्रा की पुष्कलता के कारण ही ब्राह्म विवाह राक्षस और पैशाच ही नही प्रत्युत आर्ष, दैव और प्राजापत्य से भी ऊँचा

ठहराया गया है। समाज की बुद्धि में उन आदर्शों के पुनः अवतरित होने से ही कल्याण होगा। आज-कल जिस तेजी से सामाजिक विधानों में उलट-फेर हो रहा है उस से यह आशंका होती है कि कुछ दिनों के बाद विवाह संस्कार न रह कर लौकिक इक़रारनामा-मात्र रह जायेगा। उस दशा मे उन आध्यात्मिक भावनाओं के लिए स्थान ही न रह जायेगा जो हिन्दू विवाह की आधारशिला है। भगवान् हम को ऐसी बुद्धि दें कि कालानुगत परिवर्तन करते हुए भी उन पवित्र मान्यताओं की रक्षा कर सकें जो हमारी संस्कृति की विशेषताएँ है।

लखनऊ,
पौष कृष्ण १३, २०१२

—सम्पूर्णानन्द

## तृतीय संस्करण

यह मेरे लिए परितोष की बात है कि इस पुस्तक की तृतीय आवृत्ति होने जा रही है। इस का यह अर्थ है कि लोगो ने इस को रोचक और सम्भवत. कुछ हद तक उपयोगी पाया है। मेरा तो इस के लिखने मे यही उद्देश्य था कि विवाह-जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार की तह मे जो सिद्धान्त निहित है, उस पर कुछ प्रकाश डाला जाये। यही आशा कर सकता हूँ कि इस उद्देश्य मे मुझे कुछ सफलता मिली है।

एक बात का खेद है। मैं चाहता था कि इस पुस्तक की ओर उन लोगो का भी ध्यान जाता जो हमारी पुरानी मान्यताओं और मर्यादाओ के रक्षक है। मेरा संकेत संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो और पण्डितो से है। ऐसा प्रतीत होता है कि मैं इस उद्देश्य मे सफल न हो सका और इस वर्ग को आकृष्ट न कर सका। कम से कम किसी ने अपनी सम्मति व्यक्त करने का कष्ट नही किया।

जयपुर
फाल्गुन शु० १, २०२०

—सम्पूर्णानन्द

# अनुक्रम







# समाज में स्त्रियों का स्थान

## [१] हिन्दू समाज के बाहर

इस पुस्तक का उद्देश्य तो हिन्दू समाज की विवाह-पद्धति के एक विशेष अंग का अध्ययन करना है परन्तु दूसरे समुदायों मे स्त्रियों का जो स्थान रहा है और उस स्थान के कारण विवाह का जो स्वरूप रहा है उस पर दृष्टिपात करने से प्रकृत विषय को समझने में सहायता मिल सकती है। जिन मानव-समुदायों को देश और काल ने एक दूसरे से पृथक् कर रखा था उन के विचार किस प्रकार समय-समय पर टकराते रहे हैं यह स्वयं अध्ययन के लिए रोचक विषय हैं।

यूनानियों के सम्बन्ध मे विशेष वक्तव्य नहीं है। यह जाति युरँप में सभ्यता और संस्कृति की अग्रदूत थी और इस का सिक्का उन लोगों पर भी बैठा हुआ था जो युद्धक्षेत्र में इस पर विजय पा चुके थे। परन्तु स्त्रियों के सम्बन्ध मे इन लोगों के विचार बहुत ही अनुदार थे। 'ए शार्ट हिस्टरी ऑव वीमेन' में डेयर्स कहते है कि प्राचीन यूनान में स्त्रियों का दर्जा शाक-भाजियों के बराबर था। यूनान ने अफ़लातून और अरस्तू-जैसे दार्शनिकों को जन्म दिया जिन के विचारों का आज भी सर्वत्र आदर है। विज्ञान, राजनीति, दर्शन के क्षेत्रों मे मनुष्य ने शताब्दियों तक यूनान का नेतृत्व स्वीकार किया परन्तु दुःख की बात है कि यूनानी विद्वानों का ध्यान स्त्रियों की परिस्थिति की ओर नही गया। यों तो अपने व्यक्तित्व के बल पर स्त्री अपने लिए जगह बना ही लेती है परन्तु समाज की

उत्कृष्टता तो इस बात से जाँची जाती है कि उस के विद्वान् और विधान स्त्रियो को कैसी जगह देते है ।

आरम्भ मे रोम की भी यही अवस्था थी। वहाँ भी स्त्रियों का स्थान बहुत नीचा था। ऐसा माना जाता था कि पिता अपनी सन्तान का पूर्ण स्वामी है, उस को सन्तति के जीवन पर पूरा अधिकार है और यह अधिकार प्राणदण्ड की सीमा तक जा सकता है। पिता के जीवन काल में इस स्वत्व की समाप्ति नही हो सकती थी। पिता के मरने पर लड़का तो इस बन्धन से मुक्त हो जाता था क्योकि ऐसा माना जाता था कि पुरुष होने के कारण वह पिता का स्थान लेने की क्षमता रखता है परन्तु लड़कियो मे यह क्षमता कभी भी नही होती। इसलिए पिता की मृत्यु के वाद भी वह स्वतन्त्र नही हो सकती थी। यदि पिता अपने जीवन काल मे कोई अभिभावक नियुक्त कर गया हो तो लडकी उस के अधीन रहती थी अन्यथा घर मे जो कोई भी पुरुष बडा होता था वही उस का संरक्षक हो जाता था। स्त्री के लिए नित्यपारतन्त्र्य का सिद्धान्त सर्वमान्य था। इस सिद्धान्त का विवाह पर विलक्षण प्रभाव पड़ता था। लड़की तो यावदायु पिता की सम्पत्ति थी पर उस को रहना था पति के घर। एक ही प्राणी पर दो व्यक्तियो का अधिकार व्यवहार-सुकर न होता। अत. यह माना जाता था कि पिता का स्वत्व पति मे चला गया और पति पत्नी के लिए पितृस्थानीय हो गया। दूसरे शब्दो मे लड़की पति की दुहितृस्थानीया हो गयी। सम्पत्ति उस के पास न पीहर मे थी, न ससुराल मे। यदि पति मरने से पहले कोई अभिभावक नियुक्त कर जाता था तो वह उस की देखभाल करता था, नही तो पुत्र या अन्य बड़ा पुरुष सम्बन्धी उस को अपने तन्त्र मे रखता था।

काल पाकर यह परिस्थिति बदली। जव रोमन साम्राज्य फैला तो रोमन लोग दूसरे राष्ट्रो के सम्पर्क मे आये जिन मे कुछ तो उन से अधिक सभ्य और संस्कृत थे। इस का परिणाम यह हुआ कि उन के सभी विधान

और नियम धीरे-धीरे बदले। इस का प्रभाव वैवाहिक नियमों पर भी पड़ा। यह माना जाने लगा कि पत्नी अपने पिता की सम्पत्ति होते हुए भी अस्थायी रूप से पति के पास धरोहर की भाँति रख दी जाती है परन्तु सम्पत्ति के विषय मे वह पिता के ही अधीन है। क्रमशः लड़की की सम्पत्ति पर पिता के अधिकार ढीले होते गये परन्तु पति के अधिकार बढ़ाये नही गये। फलतः स्त्री अपनी सम्पत्ति की स्वतन्त्र स्वामिनी हो गयी।

जब रोमन साम्राज्य की परिधि के भीतर बहुत-से बर्बर, अर्धसभ्य और सभ्य राष्ट्र आये और रोम को अपने बराबर के राज्यों से सन्धि-समझौते करने पड़े तो बहुत-सी वैधानिक समस्याएँ उपस्थित हुई। उन का सुलझाव पुराना रोमन विधान नही कर सकता था। परन्तु रोमन विधानाचार्यों ने मार्ग ढूँढ़ निकाला। उन्होने दृष्टि फैलाकर देखा कि सभी जातियो के विधानों मे कुछ बातें समान रूप से पायी जाती है। जंगलियो के अलिखित व्यवहार मे भी बीजरूपेण उन का अस्तित्व है। उन के बिना मात्स्यन्याय से मनुष्य मनुष्य को खा जाये और समाज का अस्तित्व ही मिट जाये। विधान के पण्डितो ने इस से यह निष्कर्ष निकाला कि प्रकृति ने स्वयं मनुष्य के हृदय मे कुछ सिद्धान्त रख दिये है। इन को उन्होंने प्राकृतिक विधान का नाम दिया और ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तो के समुच्चय के आधार पर साम्राज्य की वैधानिक कठिनाइयों को सुलझाया। इस का प्रभाव और बातों के साथ-साथ स्त्रियों की स्थिति पर भी पड़ा। 'एन्शेण्ट लॉ' मे मेन ने लिखा है, "प्राकृतिक विधान के सिद्धान्त के फलस्वरूप विधानशास्त्रियो ने अपने न्यायविधि संग्रह के आधारभूत सिद्धान्तों मे स्त्री-पुरुष की बराबरी की बात मान ली थी। पिता का अपनी पुत्री के शरीर पर स्वत्व, उस को बेचने और प्राणदण्ड देने का अधिकार, पूर्णतया लुप्त हो गया था और स्त्री को अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध करने का अबाध अधिकार प्राप्त हो गया था।"

उत्तरी युरॅप की नॉडिक जातियो मे भी, जो आज-कल के अँगरेजो,

जर्मनों और इन से मिलते-जुलते जनपदों की पूर्वज थी, पिता को प्रायः ऐसे ही अधिकार प्राप्त थे। परन्तु उन्होंने पति को पितृतुल्य पद देने की जगह दूसरा ही उपाय निकाला था। विवाह के समय वर कन्या के पिता को मूल्य देकर उस स्त्री के शरीर पर स्वत्व प्राप्त कर लेता था।

प्रायः सभी जंगली और बर्बर तथा अर्धसभ्य जातियों में स्त्री का पद पुरुष से बहुत छोटा था। उस की गणना शाक-भाजी मे ही होती परन्तु मनुष्य की आकृति होने से और थोड़ी-बहुत बुद्धि होने से कुछ लिहाज़ करना ही पड़ता था। फिर भी उस को निरन्तर अंकुश के नीचे रखना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता था। कही-कही तो यहाँ तक दस्तूर था कि अपने घर अतिथि आने पर पत्नी उस के तृप्त्यर्थ अर्पित कर दी जाये। फिजियन लोगो के पास जब रोम सरकार को कर देने के लिए अन्य सामग्री की कमी पड़ती थी तो वह पत्नियो और बच्चो को भेज देते थे।

प्राचीन काल से ही चीन का स्थान सभ्य जगत् मे बहुत ऊँचा रहा है। चीनियो की अपनी संस्कृति के विकास के लिए सहस्रों वर्षो तक निर्बाध अवसर मिला। जब मंचुओ ने उन को जीता तो उन की संस्कृति को ज्यों का त्यों अपना लिया। इस देश के इतिहास मे कई प्रभावशालिनी और आदरास्पद स्त्रियो के नाम आते है परन्तु स्त्रियो के प्रति लोगों का जो दृष्टिकोण था उस की व्यंजना प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ़्यूशियस इन शब्दों में करते है, "स्त्री सदैव परतन्त्र रहती है और उस को चाहिए कि अपने पति और श्वसुर के प्रति समुचित रीति से विनीत रहे।" साधारण चीनी स्त्री का मुख्य काम क्या समझता है इस की झलक इस बात से मिलती है कि पत्नी की ओर बहुधा 'मेरे बच्चो की माता' कह कर संकेत किया जाता है। यह जान लेना चाहिए कि यह अनादरसूचक आख्या नही है। स्त्री सार्वजनिक क्षेत्र से प्रायः अलग रहती थी परन्तु घर पर उस का स्थान बहुत ऊँचा था।

प्राचीन मिस्र मे स्त्रियो का स्थान अन्य बहुत-से देशों की अपेक्षा

ऊँचा था। वह पुरुषों के बराबर मानी जाती थीं और न केवल राज्य में बड़े पदों पर नियुक्त होती थीं प्रत्युत धर्मगुरुओं और धर्माचार्यों की श्रेणी मे भी आ सकती थी। उन के बाहर निकलने पर कोई रोक-टोक न थी और विशेष अवसरों पर पति-पत्नी एक ही मंच पर, एक ही बड़ी कुरसी पर बैठा करते थे।

ईसाई धर्म मे ईसा की माता मरियम का स्थान बहुत ऊँचा है। वह पूज्य दृष्टि से देखी जाती है। ऐसी अवस्था मे ईसाइयो मे स्त्री का बहुत आदर होना चाहिए था। परन्तु वस्तुतः ऐसा था नही। ईसाई होने के बाद भी विभिन्न जातियों के आचार-विचार प्रायः पूर्ववत् रहे। बाइबिल मे ऐसा उल्लेख है कि आदिनारी ईव से रुष्ट हो कर ईश्वर ने उस से कहा था, 'मैं तेरे दुःखों को बढ़ाऊँगा', फिर यदि साधारण मनुष्य ईश्वर का अनुकरण करें तो इस मे आश्चर्य ही क्या है? स्त्रियों को सम्बोधित कर के महात्मा टटर्चुलिअन ने कहा है, "तुम नरक का द्वार हो। नर ईश्वर की प्रतिभा है, तुम उस को नष्ट कर देती हो।" विवाह पवित्र संस्कार है और पत्नी को भगवान् को साक्षी कर के यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह पति से प्रेम करेगी, उस का आदर करेगी और उस की वशवर्तिनी रहेगी। ईसाई धर्म बहुविवाह की आज्ञा नही देता परन्तु फिर भी पुरुष को बहुत-सी सुविधाएँ है। जैसे आचरण से स्त्री तत्काल ही पतित ठहरा दी जायेगी वैसा यदि पुरुष करे तो उतनी कड़ाई नही बरती जाती। तलाक़ भी पुरुष को जल्दी मिलता है।

अरबों मे भी कभी लड़की का दर्जा बहुत छोटा माना जाता होगा और वह विवाह आदि के विषय मे पिता की इच्छा के अधीन मानी जाती होगी। क़ुरान और हदीस मे इस की ध्वनि मिलती है। आयशा के अनुसार जो स्त्री अपने पिता की स्वीकृति के बिना विवाह करती है, उस का विवाह प्रशस्य नही है।

अबू हुरैरा लिखते है, "एक स्त्री दूसरी स्त्री का दान विवाह मे नहीं

कर सकती और न कोई स्त्री स्वत. अपने को पति को अर्पित कर सकती है क्योकि जो स्त्री अपने को पुरुष को सौंपती है वह व्यभिचारिणी होती है।" परन्तु इस के विरुद्ध इब्न अब्बास बताते है, "एक बार मुहम्मद साहब के पास एक महिला ने आ कर कहा कि मेरे पिता ने मेरा विवाह ऐसे पुरुष से कर दिया है जिस को मै पसन्द नही करती। तब उन्होंने उस को अपनी इच्छा पर छोड़ दिया अर्थात् अपनी पसन्द के वर से विवाह करने की स्वतन्त्रता दे दी।" सैयद अमीरअली का कहना ठीक प्रतीत होता है कि मुसलिम विधान के अनुसार पिता लड़की का अभिभावक या वलीमात्र है जो कन्या की ओर से कानूनी काम करता है, वह किसी भी दृष्टि से उस का स्वामी नही है। पति भी स्वामी नही होता। बालिग़ होने के बाद कानून उस को स्वतन्त्र मनुष्य के सभी अधिकार प्रदान कर देता है। यह दु.ख का विषय है कि व्यवहार में स्त्री का स्थान उतना ऊँचा न रह सका। परदे की प्रथा ने उसे और नीचे गिराया। यह तो सभी जानते है कि मुसलिम विधान के अनुसार पिता की सम्पत्ति मे लड़की का भी हक होता है। यह भाग लड़के के भाग से भले ही कम हो पर इस से स्त्रियो को कुछ न कुछ आर्थिक स्वतन्त्रता मिल जाती है जिस से समाज में उस को आदर का स्थान प्राप्त करने मे सफलता मिलती है और मिली है।

## [२] हिन्दू समाज के भीतर

वर्तमान हिन्दू समाज की उपमा गंगा की धारा से दी जा सकती है। छोटी-बड़ी अनेक नदियाँ चारो दिशाओ से सैकडो कोस की यात्रा कर के इस मे मिली है परन्तु मिलने पर सब एक हो गयी हैं, उन का एक नाम हो गया है। नदी मे जल की जो मात्रा है, उस जल मे जो वेग है, वह इन सब नदियो की सम्मिलित देन है। पर इन सब जलराशियो के बीच मे वह मूल धारा है जिस मे आ कर यह सब मिली है। यदि वह आदिस्रोत न होता तो यह मिल कर एक होने का अवसर ही न पाती। इन सब के बीच मे शरीर मे प्राण की भाँति वह धार है जो गंगोत्तरी से निकल कर

गंगासागर तक चली गयी है, जो अपने क्रोड़ मे सब नद-नदियों को स्थान देती गयी है और सब को अपने पवित्र नाम और अलौकिक प्रभाव का भागी बनाती गयी है। अनेक जातियों का समुच्चय आज हिन्दू समाज कहलाता है, अनेक संस्कृतियो के योगफल का नाम हिन्दू संस्कृति है पर इन सब के मूल में, इन सब का आश्रयस्थान और सम्बन्ध-सूत्र, इन सब मे ओतप्रोत, वह संस्कृति है जिस को आर्य संस्कृति कहते है, जिस का प्रथम परिचय हम को उन लोगों मे मिलता है जो आज से कई सहस्र वर्ष पहले सप्त-सिन्धव मे रहते थे और अपने को आर्य कहा करते थे।

आर्य जीवन की झलक हम को वेदों, मुख्यतः ऋग्वेद और अथर्ववेद से मिलती है। उस से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। पीछे से भले ही यह मान लिया गया हो कि स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार नही है, परन्तु वैदिक ऋषियों मे, मनुष्यों मे वेद को लाने वालों मे कई स्त्रियाँ भी थीं। धर्म और अध्यात्म-शास्त्र की ऊँची से ऊँची भूमिकाओ मे स्त्रियों की गति थी। बृहदारण्यक उपनिषद् का सारभाग याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी की ब्रह्मजिज्ञासा के फलस्वरूप अवतरित हुआ था और विदेह की सभा में याज्ञवल्क्य से गार्गी नाम की विदुषी तपस्विनी ने शास्त्रार्थ किया था। स्त्रियों को सम्पत्ति पर रखने का भी अधिकार रहा होगा क्योंकि याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्रियो मे बाँट कर संसार से विमुख होने का प्रस्ताव कर रहे थे। स्त्री पति या उस के सम्बन्धियो की दासी न हो कर गृहस्वामिनी होती थी इस का प्रमाण वह मन्त्र देता है जो पहले-पहले सूर्या के विवाह मे पढा गया और तब से आज तक प्रत्येक शास्त्रसम्मत हिन्दू विवाह में दुहराया जाता है :

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ ऋक्० १०।८५।४६।
"सास, श्वसुर, ननद और देवरो पर सम्राज्ञी हो।"

यह आदर्श उन आदर्शों से कितना ऊँचा है जिन मे स्त्री सदा परतन्त्र

मानी जाती है और उस को यह आदेश दिया जाता है कि पति के सम्बन्धियों की सेविका बन कर रहे। प्रेम और आदर करने का कर्तव्य तो था परन्तु पति-पत्नी दोनो के लिए। विवाह के समय दम्पती संकल्प करते हैं :

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु।

मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

"अपने व्रत मे तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ। तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो। एक मन से मेरी बात का पालन करो, प्रजापति तुम को मेरे लिए नियुक्त करें।"

पर इस अवस्था मे क्रमश. परिवर्तन हुआ। सप्तसिन्धव से बाहर आर्यों का बहुत-सी व्रात्य, बर्बर, असभ्य और अधिकतर अनार्य जातियों से सम्पर्क हुआ। उन लोगो पर तो आर्य संस्कृति की अमिट छाप पड़ी ही परन्तु आर्य भी अछूते न बच सके। अरब, पठान और मुगल आक्रमणो ने परिवर्तन की गति और तीव्र कर दी। अन्य उलट-फेर के साथ स्त्रियो का स्तर नीचे गिरा। यह परिवर्तन अपनी छाया संस्कृत और प्राकृत तथा प्राकृत से निकली पीछे की भारतीय भाषाओं के वाङ्मय पर छोड़ गया है। पुराने मन्त्र ज्यो के त्यो थे, पुराने संस्कारों का परित्याग नही किया गया परन्तु उन का व्यवहार निर्जीव हो गया। मन्त्रद्रष्टी स्त्रियो की वंशजाओं से वेद पढ़ने का अधिकार छिन गया। कुछ स्मृतियो मे, जो अन्तःसाक्ष्य से अरब-पठान आक्रमण के प्रारम्भिक काल की बनी प्रतीत होती है, दूषित और बलात् धर्मान्तर मे प्रवेशित स्त्रियों की शुद्धि के लिए बहुत सरल व्यवस्था दी हुई है। बहुधा तो मासिकधर्म से ही शुद्धि मान ली जाती थी। उन दिनो जो हिन्दू स्त्रियाँ विदेशियों के हाथ मे पड़ जाती थी वह लौट आने का पूरा प्रयत्न करती थी। इस प्रयास मे कइयों ने असाधारण शौर्य और दृढ़ता का परिचय दिया था। परन्तु पीछे से यह मान लिया गया कि जो स्त्री एक बार पतित कर दी गयी वह कभी शुद्ध नही

हो सकती। इस का परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों को लौटने का उत्साह जाता रहा और वह तथा उन की सन्तति उस हिन्दू समाज की कट्टर शत्रु बन गयी जिस ने उन का इस प्रकार निर्दय तिरस्कार किया था।

यों तो वेदों मे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के छोटे होने की ओर कही-कही संकेत मिलता है परन्तु इस प्रकार के स्पष्ट वचन पीछे के काल मे बहुतायत से मिलते है। अपनी स्मृति के पन्द्रहवें अध्याय मे वसिष्ठ कहते है :

शोणितशुक्रसम्भवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकः। तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः।

"पुरुष माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न होता है, अतः माता-पिता को उस को दान करने, बेचने और त्याग करने का अधिकार है।" यहाँ तो सन्तति मात्र पर अधिकार माना गया है परन्तु पीछे से यह अधिकार लड़कियों तक ही सीमित रह गया। मनु कहते है :

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ (९।३)

"बचपन में पिता और यौवन मे पति रक्षा करता है तथा बुढापे में पुत्र रक्षा करते हैं। स्त्री स्वतन्त्र रहने के योग्य नही है।"

इस वाक्य का यह भी अर्थ हो सकता है कि बचपन मे पिता का, यौवन मे पति का तथा बुढापे मे पुत्रों का कर्तव्य है कि स्त्री की रक्षा करें। स्त्री को अरक्षित, निःसहाय न छोड़ना चाहिए।

घर मे स्त्री का स्थान सदैव ऊँचा रहा। प्राचीन आर्य परम्परा का लोप नही हुआ। मनु ने लिखा है :

एतावानेव पुरुषः यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद् यो भर्ता साऽङ्गना स्मृता॥ (९।४२)

"स्वयं, अपनी स्त्री, और सन्तान को मिला कर पुरुष होता है। विद्वानों का कहना है कि जो पति है, वही स्त्री है (अर्थात् दोनों पूर्णतया मिले हुए है)।"

इस का भाष्य करते हुए कुल्लूकभट्ट ने वाजसनेय ब्राह्मण से यह वाक्य उद्धृत किये है :

अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद् यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति । अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति, तथा चैतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्य्या स्मृता ।

"इस लिए वह अपने आत्मा का आधा ही रहता है जब तक विवाह नही करता । जब तक सन्तान नही होती तब तक असर्व रहता है । जब विवाह कर लेता है और सन्तान उत्पन्न कर लेता है तब वह सर्व होता है। वेद के जानने वाले विद्वान् ऐसा कहते है कि जो भर्ता है वही भार्या है ।"

यह तो बड़ा ऊँचा विचार है परन्तु वह दूसरा विचार भी कि स्त्री स्वतन्त्र छोड़ने के योग्य नही है, फैलता गया । स्त्री को परतन्त्र रखने का कारण यह नही है कि वह कोमल मृणालतन्तु के समान रक्षा के योग्य है परन्तु यह कि वह पुरुष की अपेक्षा हीन प्राणी है और लोक-परलोक मे पुरुष की उन्नति मे बाधा डालती हैं । भर्तृहरि कहते है :

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः ॥

"संसार से छुटकारा पाना कठिन न होता यदि मदिरासमान नेत्रवाली स्त्रियाँ बीच मे बाधा न डालती ।"

यह कोई नही पूछता कि स्त्रियो के मार्ग मे कौन बाधा डालता है । साधारण मनुष्यो की तो बात क्या की जाये जब मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र भी प्रेम और तप की मूर्ति सीता के प्रति निरादरसूचक शब्दो के प्रयोग करने का साहस कर जाते है :

विदितश्चास्तु ते भद्रे योऽयं रणपरिश्रमः ।
स तीर्णः सुहृदां वीर्य्यान्न त्वदर्थं मया कृतः ॥

(वाल्मीकि० ६।११८।१५)

"हे भद्रे, तुम यह समझ लो कि यह जो महायुद्ध मैंने किया है वह तुम्हारे लिए नही किया गया।"

रघुवंश मे कालिदास भी यही बात कहते है। सीता को यह बात समझा दी गयी है कि रावण से उन के लिए युद्ध नही किया गया वरन् इसलिए कि रावण ने रामचन्द्रजी को छेड़ा था। पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः—"यदि कोई साँप को ठोकर लगायेगा तो वह उस को डँसेगा ही।" लंका की लडाई का कारण सीता के प्रति प्रेम नही प्रत्युत रावण के प्रति अमर्ष था।

यह बात भी मान ली गयी कि पति स्त्री के शरीर का स्वामी है और उस को दूसरे के हाथ में दे सकता है। ऐसा होता बहुत कम होगा परन्तु धारणा रूप से यह बात सब के मन मे बैठ गयी थी। जब युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दाँव पर लगाया तो यह आपत्ति किसी ने नहीं की कि ऐसा करना अवैध होगा। स्वयं द्रौपदी को भी शंका नही हुई। उन्होंने केवल यह प्रश्न पूछा :

किन्तु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम्।

"किन्तु तुम पहले अपने को हारे या मुझ को?" इस का भाव स्पष्ट है। यदि राजा पहले अपने को हार चुके होते तो वह परतन्त्र हो जाते और उन को जीव-अजीव किसी सम्पत्ति पर कोई अधिकार न रह जाता और यह द्रौपदी की बाज़ी लगा ही न सकते।

स्त्रियों को दान मे देने या अन्य प्रकार से हस्तान्तरित करने की कहानियाँ मिलती है और श्रद्धालुओं को उन मे बर्बरता की दुर्गन्ध नहीं आती। कबीर के जीवन की एक कथा प्रसिद्ध है। एक दिन सायंकाल उन के यहाँ एकाएक बहुत-से साधु आ गये। घर मे अन्न न था। कबीर अपनी पत्नी को एक सेठ के घर गिरवी रख आये। वह जानते थे कि यह दुराचारी है और मेरी पत्नी को कुदृष्टि से देखता है पर उसी से उस समय पर्याप्त पैसा मिल सकता था। यह दूसरी बात है कि भगवान् ने

उस सती के धर्म की रक्षा की, परन्तु यदि कथा सच हो तो कबीर ने अपनी ओर से तो अपनी पत्नी के साथ घोर अनार्य और अमानव बरताव किया। कथा सच हो या झूठ परन्तु जो लोग उस को श्रद्धा के साथ सुनते हैं वह अपने को उस पाप का भागी बनाते हैं। यदि कहानी गलत है तो जिस ने इसे गढ़ा उस ने ऐसी बात कही जिस को तत्कालीन लोकमत बुरा नही समझता था।

ईसाई प्रचारकों ने भारतीय समाज के काले चित्र खीचने में कोई कसर नही उठा रखी। ऐसी करुणोत्पादक बातें सुना कर ही वह अपने देशो के उदार व्यक्तियों से चन्दा जमा कर सकते थे। पश्चिम की सभ्यता की चकाचौंध मे अपनी बुद्धि की स्थिरता खो कर कुछ भारतीय समाज-सुधारको ने भी अपनी परम्पराओ की निन्दा के पुल बाँध दिये। इन बातो में बहुत अतिरंजन था। सार्वजनिक रूप से स्त्रियों के व्यक्तित्व को विकसित होने के अवसर कम हो गये हों और समाज ने उन का पद पुरुषों से नीचा भले ही माना हो परन्तु ऐसी कोई बात नही थी जिस से हिन्दू को दूसरो के सामने लज्जित होना पडे। लक्ष्म, सरस्वती और दुर्गा की उपासना करने वाला, पार्वती, सीता और सावित्री का यशोगान करने वाला, सप्तशती के इस वाक्य को बराबर सुनने वाला, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु, तव देवि भेदाः "हे देवि, जगत् की सब स्त्रियाँ आप की ही भेद है," स्त्रियो को कहाँ तक नीचे गिराता। मनु के इस उपदेश का कि पितुः शतगुणा माता "पिता से माता का पद सौगुना है," श्रद्धा के साथ पालन होता था। महाभारत का यह वाक्य द्रष्टव्य है :

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु जातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते॥

"जो लोग ब्राह्मण, स्त्री, गऊ और जाति का हनन करते हैं, वह लोग, हे धृतराष्ट्र, पके फल की भाँति गिरते है।" यहाँ स्त्री गऊ और ब्राह्मण के समान पूज्य ठहरायी गयी है।

यह सच है कि किसी-किसी स्मृतिकार ने स्त्रियों का पद बहुत नीचे गिरा दिया है। बृहस्पतिस्मृति कहती है :

सहस्रमेव धेनूनां शतं चानडुहां समम्।
शतानडुत्समं यानं दशयानसमं हयः
दशवाजिसमा कन्या।

यह श्लोक दान प्रकरण में आया है। इस का तात्पर्य यह है कि एक सहस्र गौओं के बराबर एक सौ बैल होते हैं, सौ बैलों के बराबर एक यान ( रथ ) होता है और दस रथों के बराबर एक घोड़ा होता है। दस घोड़ों के बराबर एक कन्या होती है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि कन्या का बाज़ार भाव घोड़े बैलों के साथ सुगमता से स्थिर किया जा सकता है। परन्तु ऐसी मूर्खतापूर्ण बातों के साथ-साथ प्रचुर मात्रा मे ऐसे वाक्य मिलते है जो स्त्रियों के प्रति सम्मान के द्योतक है। मनु स्पष्ट कहते है :

न निष्क्रयनिसर्गाभ्याम् भर्तुर्भार्य्या विमुच्यते। ( ९।४६ )

"स्त्री का पति से विक्रय या दान के द्वारा विच्छेद नही हो सकता।"

महाभारत का कहना है :

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।

"जैसे आत्मा वैसे ही पुत्र होता है और लड़की पुत्र के बराबर होती है"

संन्यासी संस्कार के सभी बन्धन तोड़ देता है। यदि उस का पिता भी मिल जाये तो संन्यासी उसे प्रणाम नही करेगा। परन्तु माता के लिए अपवाद है। माता के चरण संन्यासी को छूने ही होगे।

पति या पुत्र के न होने पर स्त्रियां बराबर राज्याधिकारिणी होती आयी है। इस सम्बन्ध में कभी कोई वैधानिक अड़चन नही पड़ी। वीर नारियों के नाम से भारतीय इतिहास के पन्ने भरे पड़े है। इस परम्परा का एक परिणाम तो प्रत्यक्ष हुआ। अन्य देशों की भाँति भारतीय स्त्रियों को मताधिकार के लिए लड़ना नही पड़ा। जब उन को वोट देने का और

चुने जाने का अधिकार मिला तो किसी ओर से भी विरोध नही हुआ। आज स्त्रियाँ बड़े-बड़े पदो पर नियुक्त होती है, इस की भी कोई प्रतिक्रिया नही देख पड़ती।

सम्पत्ति के सम्बन्ध मे स्त्रियो और पुरुषो मे वैषम्य है। कुछ शास्त्र-कारो का तो यह मत है कि स्त्रियो को पैतृक सम्पत्ति में कोई भाग न मिलना चाहिए। तैत्तिरीय संहिता मे उन को अदायादी—दाय मे भाग न पाने वाली—कहा है। वैदिक काल मे भी सिद्धान्त और व्यवहार में कुछ अन्तर रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण मे याज्ञवल्क्य एक ओर कहते है : न ताः दायस्य चैशत "वह (स्त्रियाँ) दाय भोगने के योग्य नही हैं।" और दूसरी ओर स्वयं अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्रियो मे बाँटते है। क्रमशः यह बात स्वीकार कर ली गयी कि विशेष परिस्थितियो मे स्त्रियो तक दाय उतर सकता है।

प्राचीन काल से ही स्त्रियो को यहाँ एक बहुत बड़ा अधिकार मिला हुआ है। स्त्री अपने पिता-माता से या पति से जो कुछ चलाचल सम्पत्ति पाती है उसे स्त्रीधन कहते है। उस पर उस का एकमात्र अधिकार होता है। पति पर चाहे जितना ऋण हो जाये परन्तु महाजन उस पर हाथ नही डाल सकता। मृत्यु के बाद यह सम्पत्ति दिवंगता स्त्री की लड़कियों को मिलती हैं। इस व्यवस्था ने हिन्दू स्त्रियो को ऐसी आर्थिक स्वाधीनता दे दी है जिस के लिए पाश्चात्त्य नारी भी तरसती है।

हिन्दू समाज मे अब तक विवाहविच्छेद (तलाक) की प्रथा नही थी। इस पर समाजसुधारको को बड़ी आपत्ति है। हो सकता है कि तलाक किन्ही दृष्टियो से अच्छी चीज़ हो परन्तु अब तक तो इस प्रथा के अभाव ने हिन्दू स्त्री की बहुत रक्षा की है। पति-पत्नी मे चाहे प्रेम न हो परन्तु स्त्री पतिकुल के लिए पोष्या रही है। विधवा होने पर भी उस का यह अधिकार अक्षुण्ण रहता था। इस लिए एक ओर तो वह रोटियो के लिए भिखारिन बनने से बच जाती थी, दूसरी ओर पेट के लिए धर्म

बेचने की लालच से भी दूर रहती थी। मैं यह नही कह रहा हूँ कि स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार नही होता; तात्पर्य केवल इतना है कि उन की रक्षा और ससम्मान जीवननिर्वाह के लिए भी पर्याप्त प्रबन्ध है।

सतीत्व को जो असाधारण महत्त्व दिया गया है इस पर कुछ लोगों को आश्चर्य होता है, आज-कल इस पर हँसने और इसे असामयिक मानने की भी कुछ प्रवृत्ति है। यह भावना इस बात की द्योतक मानी जाती है कि पुरुष स्त्री को भुलावे मे डाल कर अपने साथ बाँध रखना चाहता है। सम्भव है यह सब बातें अंशतः सच हों। पुरुष की सद्भावना की वकालत मैं भी नही करता परन्तु यह भी सच है कि हिन्दू समाज ने सतियों को जो ऊँचा स्थान दिया है गौरी, सावित्री, लोपामुद्रा, अरुन्धती, सीता को जिस आदर की दृष्टि से देखता है, उस का प्रभाव स्त्रियों के लिए बड़ा अच्छा हुआ है। स्त्री की सहज पवित्रता के सामने पुरुष को सिर झुकाना ही पड़ता है, स्त्री को भी इन आदर्शों को अपने सामने रखना ही पड़ता है।

वर्तमान काल के सम्बन्ध मे कुछ कहना आवश्यक है। वह तो हमारे सामने है। स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति मे भी परिवर्तन हो रहे हैं। यह कहना कठिन है कि यह परिवर्तन सब के सब कहाँ तक वांछनीय है।

भारत मे और उस के अंगभूत हिन्दू समाज मे भी द्रुत गति से अवस्था बदल रही है। कुछ परिवर्तन तो स्वाभाविक और कालगति के अनुरूप है और कुछ केवल पश्चिम की नकल है। विवाह और दाय भाग के नियमों पर आलोचकों की कड़ी दृष्टि है, पुराने बिचार ढीले पड़ रहे हैं, पुराने विश्वासों में वह पहले की शक्ति नही रही, पुराना आर्थिक ढाँचा भी नही रहा। परिवर्तन होना ही चाहिए परन्तु गम्भीर विचार के बाद, ताकि उस के प्रवाह मे वह विचार और तन्मूलक प्रथाएँ भी न बह जायें जो हमारी संस्कृति की प्राणस्वरूपा है।

# कन्यादान और
# हिन्दू विवाह में उस का महत्त्व

दान शब्द दा धातु से निकला है। उस का प्रयोग खैरात, भेंट, समर्पण के अर्थ में होता है। इन सब प्रकारो से वस्तु का हस्तान्तरण होता है और हस्तान्तरण के साथ-साथ उस का स्वामी बदल जाता है। मुख्य प्रयोग तो यही है, यो व्यवहार मे ऐसे स्थलों पर भी इस शब्द या इस से सम्बद्ध क्रिया पदो से काम लेते हैं जहाँ हस्तान्तरण या स्वामि परिवर्तन का भाव नही होता। उदाहरण के लिए, अतिथि को आसनदान किया जाता है अर्थात् बैठने की जगह दी जाती है, दर्ज़ी को कपडे दिये जाते हैं, परीक्षा दी जाती है इत्यादि। 'कन्यादान' मे दान शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ मे ही हुआ है। कन्या का वर को सौंप दिया जाना कन्यादान है; उस प्रक्रिया को भी कन्यादान ही कहते है जिस के द्वारा यह दान सम्पन्न होता है। कन्या का पिता ही दाता होता है पर यदि पिता न हो तो याज्ञवल्क्य के अनुसार क्रमात् पितामह, बड़ा भाई और माता यह कृत्य कर सकते है। यदि इन मे से कोई भी न हो तो कोई भी बड़ा सम्बन्धी पिता की जगह ले सकता है। वर ही आदाता होता है।

यो तो कन्या को वर को अर्पित करने की प्रथा अन्यत्र भी पायी जाती है परन्तु हिन्दू समाज मे इस को जिस धार्मिक दृष्टि से देखा जाता है वह और कही नही है। दूसरी जगह वह केवल सामाजिक रिवाज़ है जिस को छोड देने से विवाह की पद्धति मे कोई कमी नही आती। हिन्दुओं मे कन्यादान विवाह पद्धति का अनिवार्य अंग है। आर्य समाज ने भी

इसे रखा है। अब तो इस की अनिवार्यता का केवल एक अपवाद रह गया है। 'अब' कहने का विशेष कारण है। हमारी सभी स्मृतियों ने ऐसा कहा है कि विवाह के आठ प्रकार होते हैं : ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इन मे से कुछ को तो विवाह कहना भाषा के साथ अन्याय करना-सा प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, पैशाच को बलात्कार से भिन्न मानना कठिन प्रतीत होता है। स्मृतिकारों ने इन को इसीलिए विवाह की पदवी दी है कि इन से जो सन्तान उत्पन्न हो वह वैध मान ली जाये और निराश्रय न रहे। आज-कल ब्राह्म ही वास्तविक विवाह माना जाता है। हिन्दू-मात्र मे, कम से कम उन लोगों में जो न्यूनाधिक रूप से शास्त्रों का पालन करते है, यही प्रचलित हैं। स्मृतियों ने भी इस को ही सब से श्रेष्ठ और पवित्र बतलाया है। परन्तु इस के साथ-साथ गान्धर्व की भी मान्यता प्राप्त है। यदि कोई स्त्री और पुरुष साथ रहते हों और दम्पती-जैसा व्यवहार करते हो और यदि उन का विवाह अन्य किसी कारण से अवैध न होता हो तो उन के इस सम्बन्ध को विवाह-जैसा मान लिया जाता है। गान्धर्व विवाह मे कन्यादान के लिए कोई स्थान नही है।

यहाँ हम को ब्राह्मविवाह पर ही विचार करना है। इस मे ही वस्तुतः कन्यादान होता है। विवाह की यह पद्धति बहुत लम्बी है। इस की अन्तिम कड़ी सप्तपदी है।

कन्यादान से जो पुण्य होता हैं वह अक्षय्य और अपरिमेय है। लिंग-पुराण के शब्दो मे :

> यावन्ति सन्ति रोमाणि कन्यायाश्च तनौ पुनः।
> तावद्वर्षसहस्राणि रुद्रलोके महीयते ॥

"कन्या के शरीर मे जितने रोम है उतने सहस्रवर्ष कन्या का दाता रुद्र लोक मे निवास करता है।"

मनु कहते हैं :

दश पूर्वान् परान् वंश्यान् आत्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन् मोचयेदेनसः पितृन् ॥ (३।३७)

"ब्राह्म विवाह से उत्पन्न लडका अपने कुल के इक्कीस व्यक्तियों को पाप से ( नरक से ) मुक्त करता है—अपने पहले के दस, पीछे के दस और एक स्वयं।"

भविष्यपुराण की घोषणा है :

ब्रह्मदेयान्तु यः कन्याम् अलंकृत्य प्रयच्छति ।
सप्त भूतान्भविष्यांश्च स्वकुले सप्त मानवान् ॥
तेन कन्याप्रदानेन तारयिष्यत्यसशयम् ।

"जो कन्या को अलंकृत करके ब्राह्म विधि से देता है वह निश्चय ही अपने सात पूर्वजों और सात वंशजो को नरक से बचा लेता है।"

आश्वलायन इस से भी आगे जाते हैं :

तस्यां जातो द्वादशावरान् द्वादशपूर्वान् पुनाति ।

"उस मे उत्पन्न हुआ लड़का वारह पूर्वजो और वारह अवरजों को पवित्र करता है।"

इन वाक्यो की लाक्षणिक मीमांसा ही करनी चाहिए। शब्दशः अर्थ लगाना तो अन्याय होगा। यदि यो ही पूर्वज और अवरज पवित्र हुआ करे तो फिर कोई हिन्दू तो कभी नरक जायेगा ही नही क्योकि वह किसी न किसी कन्यादान करने वाले का पूर्वज या अवरज तो होगा ही। इस प्रकार के वाक्यों को अर्थवाद की दृष्टि से देखना चाहिए जिन मे अतिशयोक्तिमय प्रशंसा के द्वारा किसी कर्तव्य की ओर प्रेरित किया जाता है। तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि कोई लड़की वेब्याही न रह जाये। पिता न हो तो कोई और सम्वन्धी इस का दायित्व अपने ऊपर ले ले। यदि दुर्भाग्य से कोई भी सम्वन्धी न हो तो नारद कहते है :

यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत् ।

"यदि कोई न हो तो कन्या राजा के पास जाये।"

इस का तात्पर्य यह है कि राज्य का यह कर्तव्य था कि इस बात का प्रबन्ध करे कि विवाहयोग्य लड़कियों का विवाह हो जाये। वर्तमानकाल मे राज्य के अधिकारों और कर्तव्यों के क्षेत्र का बहुत विस्तार हुआ है परन्तु इस कर्तव्य को किसी ने नही अपनाया है। प्राचीन हिन्दू राज्य इस विषय में बहुत आगे था।

कन्यादान से पुण्यसंचय होने का विश्वास इतना दृढ़ है कि पिता के दान कर लेने पर बहुत से सम्बन्धी और ऐसे लोग भी जो दूसरे वर्ण और कुल के होते है उस को दान देते है। कम से कम उत्तर भारत में तो ऐसा कई जगह देखा जाता है। यह शंका नही उठती कि एक बार दान की हुई वस्तु का फिर कैसे दान होगा।

दान करने के पुण्य के साथ-साथ दान न करने के दण्ड का भी वर्णन है। इस से निष्ठा और दृढ होती है। याज्ञवल्क्य कहते है:

अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ।

"कन्या का दान न करने से उस के प्रत्येक ऋतुकाल पर (पिता को) भ्रूणहत्या का पाप लगता है।"

कन्यादान का जहाँ-जहाँ विधान है वहाँ यह भी लिखा गया है कि कन्या को अपने वित्त के अनुसार सोना, चाँदी और अन्य बहुमूल्य द्रव्य देना चाहिए। दान के लिए जो संकल्प पढा जाता है वह इस प्रकार है (यह संकल्प आनन्दाश्रम, पूना की छपी संस्कारपद्धति से लिया गया है):

अमुकप्रवरान्वितामुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकशर्माऽहं मम समस्तपितृणां निरतिशयसानन्दब्रह्मलोकावाप्त्यादिकन्याप्रतिपादनकल्पोक्तफलावाप्तयेऽनेन वरेणास्यां कन्यायामुत्पादयिष्यमाणसंतत्या द्वादशावरान् द्वादश परान् पुरुषान् पवित्रीकर्तुमात्मनश्च लक्ष्मीनारायणप्रीतये ब्राह्मविवाहविधिना कन्यादानमहं करिष्ये।

अमुक प्रवरान्वित अमुकगोत्रोत्पन्न अमुक ( शर्मा, वर्मा आदि वर्णानुसार ) मैं कन्यादान कल्प मे बतलाये गये निरतिशय सानन्द ब्रह्मलोक-प्राप्ति आदि फलो को अपने सब पितरों को प्राप्त कराने के लिए इस वर से इस कन्या मे उत्पन्न होने वाली सन्तति के द्वारा बारह पर बारह अवर पुरुषो को तथा अपने को पवित्र करने के लिए लक्ष्मीनारायण की प्रीति के लिए ब्राह्म-विवाह विधि से इस कन्या का दान करता हूँ।"

जब 'प्रतिगृह्णामि' कह कर वह अपनी स्वीकृति दे देता है तब दान के अनुरूप दक्षिणा दी जाती है, क्योंकि दक्षिणा बिना कोई शास्त्रसम्मत दान सम्पूर्ण नही होता।

विवाह के प्रसंग मे शास्त्रों मे प्रायः सर्वत्र कन्या शब्द का प्रयोग हुआ है। यह एक प्रकार का पारिभाषिक शब्द माना जाता है और दस वर्ष की अविवाहिता लड़की के लिए आता है। स्मृतियों में कई जगह ऐसा स्पष्ट आदेश है कि इस वय से आगे लड़की का विवाह नही टलना चाहिए। इस के पहले विवाह हो जाना तो बहुत ही श्रेयस्कर है। लड़की यदि विवाह के पहले रजस्वला हो गयी तो घर वालों को महान् पातक लगता है। इस लिए कुछ विद्वानो का मत है कि विवाह के सम्बन्ध मे सर्वत्र कन्या शब्द दस वर्ष की लड़की के लिए ही आया है। ऐसा मानना समीचीन नही प्रतीत होता। कुछ स्मृतिकारो ने निश्चय ही यह अर्थ लिया है परन्तु यह व्याख्या सर्व-सम्मत नही है। बहुत छोटे वय मे विवाह कर देने की प्रथा अर्वाचीन प्रतीत होती है। मनु का परामर्श है कि :

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् (मनु० ९।९४)

"तीस वर्ष का वर बारह वर्ष की मनोहारिणी कन्या से विवाह करे।"

और वह यह भी आदेश देते है :

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ (९।९०)

"ऋतुमती होने के पश्चात् कुमारी तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, यदि घर वाले तब भी उस का विवाह न करें तो योग्य पति से स्वयं विवाह कर ले।"

इस का अर्थ तो यह हुआ कि सत्रह, अठारह वर्ष के वय तक का विवाह तो मनु को भी सम्मत है। फिर नारद ने जो यह आदेश किया है कि यदि घर वाले विवाह न करें तो कन्या राजा के पास जाये, यह आदेश भी दस वर्ष की लड़की के लिए नही हो सकता। इन बातो से यह प्रतीत होता है कि साधारणतः कोई भी अविवाहिता स्त्री कन्या कहलाती थी। इस का अपवाद वही स्त्रियाँ हो सकती थी जिन्होंने किसी कारण से तपश्चर्या और योगाभ्यास मे जीवन बिताने का संकल्प कर लिया हो। इस के कई उदाहरण हैं। महाभारत मे सुलभा का आख्यान है। उन की तपोनिष्ठा का विलक्षण कारण है :

साऽहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्म्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥

"उस कुल मे उत्पन्न हुई मैं अपने योग्य वर के न होने से मोक्षधर्म में विनीत हो कर अकेली मुनिव्रत का पालन करती हूँ।"

ऐसी देवियों को जिन का विवाह होना ही नही है कन्या कहना निरर्थक है।

कन्या के बराबर का ही वर शब्द है। वर वह पुरुष हुआ जो वरण करता है या जिस का वरण किया जाता है। साधारण बोलचाल मे दूल्हे को, उस पुरुष को जिस का विवाह होने वाला है, वर कहते है।

यदि कन्या देय वस्तु है, यदि उस का दान करने से दाता और उस के कुल मे उत्पन्न और उत्पन्न होने वाली पीढियों को पुण्यसंचय होता है, तो फिर इस दान से अन्य दान की भाँति कुछ और भी फल घटित होगे। दान की हुई वस्तु का उपभोग नही हो सकता। दान की हुई गऊ का दूध

ग्रहण करना पाप होगा। हाँ, यदि कोई बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ जाये और गत्यन्तर न हो तो मूल्य दे कर दूध काम मे लाया जा सकता है। हिन्दू कन्या के प्रति ऐसा ही व्यवहार करता है। लड़की के घर का अन्न-जल ग्रहण नही किया जाता, उस के घर की कोई और वस्तु भी व्यवहार मे नही लायी जाती। यदि कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि कही और से काम की वस्तु उपलब्ध नही हो सकती तो मूल्य देकर कन्या की सम्पत्ति का उपयोग कर लेते है परन्तु मूल्य बाज़ारभाव से कही अधिक दिया जाता है। आदित्य-पुराण मे आदेश है :

अप्रजायां तु कन्यायां नाश्नीयात्तस्य वै गृहे।
ब्रह्मदेया विशेषेण नैव भोज्यं सदैव तु॥

"जब तक कन्या को सन्तान न हो जाये, तब तक उस के ( जामाता के ) घर नही खाना चाहिए। विशेषकर ब्राह्मविवाह मे दी गयी लड़की के घर कभी नही खाना चाहिए।"

सन्तान हो जाने के उपरान्त लड़की के घर खाना या उस की अन्य वस्तु का उपयोग करना उतना बुरा नही माना जाता। यह भी समझ लेना चाहिए कि सन्तान से तात्पर्य यहाँ पुत्र से है। हिन्दू दायविभाग के अनुसार गर्भ मे आने के साथ ही लड़का पैतृक सम्पत्ति का भागी हो जाता है अतः पुत्र के जन्म होने से अब सम्पत्ति केवल लड़की जामाता की नही रही, वरन् दौहित्र भी अंशत. उस का स्वामी हो गया।

नाती – लड़की के लडके – का पद बड़ा ऊँचा माना जाता है। वह पुत्र के समान ही नरक से उद्धार करने मे समर्थ होता है। पुत्र का तो नाम इसी लिए पड़ा है कि वह पुत् ( अर्थात् नरक ) से त्राण करता है। यो तो मनुष्य अपने कर्मो के बल से ही पुण्य-पाप का भागी होता है, पुत्र किसी की क्या सहायता करेगा। और फिर सब पुत्र तो इस योग्य भी नही होते कि अपने को सँभाल सके। जैसा कि बोधायनी गृह्य परिभाषा मे लिखा है :

न मांसपेशलः पुत्रो नाऽविद्वान्नाप्यकर्म्मकृत् ।
स्वयं न याति यः स्वर्गं पितरं तारयेत्स किम् ॥

"मांसपिण्ड पुत्र नहीं होता, न जो अविद्वान् और अधर्मचारी है वह पुत्र होता है । जो स्वयं स्वर्ग नही जायेगा, वह पिता को क्या तारेगा ।"

फिर भी पुत्रोत्पत्ति के लिए लोग बड़े-बड़े यत्न करते है, न जाने कितने जप-तप करते-कराते हैं । कुछ नहीं होता तो दत्तक ले कर सन्तोष करते है ।

जिन को पुत्र नहीं होता वह नाती से भी वैसी ही आशा रखते है, पुत्र के अभाव मे नाती अपने नाना की सम्पत्ति का स्वामी भी होता है । यदि अतिशयोक्ति न मानी जाये तो नाती का पद पुत्र से भी बड़ा है— पुत्र तो पिता को ही सँभालता है परन्तु नाती पचीस पीढ़ियों तक का त्राण करता है ।

विवाह के प्रसंग में देने की बात एक और स्थल पर भी आती है । उस का कन्यादान से कोई सम्बन्ध नही है परन्तु प्रसंगतः उस का भी उल्लेख कर देता हूँ । ऋग्वेद (१०।८५।४१) मे सूर्या के विवाह के प्रसंग में वर कहता है :

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये ।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथा इमाम् ॥

इस से पहले वाला मन्त्र कहता है :

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥

इस का तात्पर्य यह है कि हे कन्या, पहले सोम ने तुझे पाया, फिर गन्धर्व ने । तेरा तीसरा पति अग्नि हुआ और चौथा पति मनुष्य की सन्तान अर्थात् मनुष्य है ।

इस का यह अर्थ नही हो सकता कि एक स्त्री के कई पति होते है या विवाह के पहले देवगण कन्या का भोग करते है । यह तो घोर पाप की

बात होगी। यहाँ पति का अर्थ पाता–रक्षक–ही हो सकता है। इस बात की पुष्टि बाद वाला मन्त्र करता है। उस का स्पष्ट अर्थ यह है कि कन्या के शैशव काल मे सोम उस के रक्षक होते है, फिर वय बढने पर वह इस भार को गन्धर्व को सौंपते है। इसी प्रकार और बड़ी होने पर गन्धर्व अग्नि को यह काम सुपुर्द करते है। जब कन्या वयस्का होती है तो अग्नि वर को कन्या और कन्या के साथ पुत्र और धन-सम्पत्ति दे कर भारमुक्त होते है। यह मन्त्र अब भी विवाह प्रकरण मे पढे जाते है।



# कन्यादान की वैधता

संस्कारगणपति के अनुसार ब्राह्मविवाह पंचाग होता है। पाँचो अंगों के नाम वाग्दान, प्रदान अर्थात् कन्यादान, वरण, पाणिग्रहण और सप्तपदी है। वाग्दान का अर्थ यह है कि कन्या का पिता यह वचन देता है कि दैवज्ञों के बतलाये शुभ दिन मे वह अपनी कन्या का अमुक वर से विवाह कर देगा, वर का पिता भी इसी प्रकार का वचन देता है। विवाह के लिए जो दिन निश्चित हो चुका होता है उस के दो-चार दिन पहले वर के सम्बन्धी और मित्र कन्या के घर जाते है और कन्या के पिता से प्रार्थना करते है कि कन्या को अमुक वर को प्रदान कीजिए। इस का नाम वरण है। सब बात तो पहले से निश्चित रहती है, प्रार्थना स्वीकार कर ही ली जाती है। पाणिग्रहण, कन्यादान और सप्तपदी से सभी लोग परिचित है। पिछले अध्याय मे कन्यादान का आवश्यक वर्णन कर भी दिया गया है।

कन्यादान, पाणिग्रहण और सप्तपदी का तो आज भी चलन है परन्तु वाग्दान और वरण का वह रूप अब नही रहा। कम से कम उत्तर भारत मे तो वरण का लोप-सा हो गया है। वाग्दान है पर वह फलदान और तिलक मे अन्तर्भूत हो गया है; इन मे रुपयो की लेन-देन का महत्त्व अधिक है, अन्य बातों का कम। कन्या का पिता तो कुछ वचन देता भी है परन्तु यदि वर का पिता कोई प्रतिज्ञा करता है तो वह पुरोहितों के मुँह से निकले श्लोकों मे ही रह जाती है। प्रसंगागत वैदिक मन्त्र यदि पढ़े भी जाते है तो उन की ओर कोई ध्यान नही देता। फिर भी इन दोनों कृत्यों का महत्त्व

है। यह प्राचीन परम्परा और विचारों पर प्रकाश डालते है और इन ने शेष तीनो कृत्यो को समझने और उन की मीमांसा करने में सहायता मिलती है। विवाह को पंचांग कहने से यह बात निकलती है कि पांचों अंग सम्बद्ध है और एक दूसरे की अपेक्षा करते है। पीछे का कोई भी अंग हो, वह पूर्ववर्ती अंगो की आधारशिला पर ही स्थित रह सकता है।

कन्या का वर को दिया जाना कन्यादान है, यह तो हम देख चुके है। कभी-कभी एक मित्र दूसरे को कोई वस्तु भेंट कर देता है परन्तु ऐसी भेंट का कोई धार्मिक महत्त्व नही होता। कन्यादान का धार्मिक महत्त्व है। मित्र भेट की हुई वस्तु को लौटा सकता है परन्तु दी हुई कन्या लौटायी नही जाती। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच कन्या का दान हो भी सकता है, क्या कन्यादान वैध दान है? हम इस प्रश्न पर कई दृष्टियो से विचार करेंगे।

यह तो मानी बात है कि उसी वस्तु का दान हो सकता है जो अपनी सम्पत्ति हो। सम्पत्ति हस्तान्तरण विधान ( ट्रान्स्फर ऑव प्रॉपर्टी ऐक्ट ) कहता है कि "यदि एक व्यक्ति के द्वारा, जिसे दाता कहते है, दूसरे व्यक्ति को, जिसे आदाता कहते है, कोई चल या अचल सम्पत्ति इच्छापूर्वक और विना किसी प्रत्युपकार की आशा के हस्तान्तरित की जाये तो इस हस्तान्तरण को दान कहते है।" अपनी टीका मे डी० एफ़० मुल्ला कहते है कि आध्यात्मिक या नैतिक लाभ की आशा से किया गया हस्तान्तरण दान हो सकता है। इस विधान के अनुसार यदि अपना कोई ऐसा स्वत्व हो जो न्यायालय के सामने लाया जा सकता हो तो उस का भी दान हो सकता है। जैसे यदि किसी महाजन का किसी व्यक्ति पर रुपया बाकी हो तो वह इस ऋण का दान कर सकता है। इस विधान के अनुसार कन्या का दान तभी वैध हो सकता है जब वह या तो चल या अचल सम्पत्ति हो या न्यायालय के सामने लाने योग्य स्वत्व हो। यह स्पष्ट है कि कन्या इन दो मे से एक भी नही है। आज-कल का विधान यह नही मानता कि कन्या पिता की

सम्पत्ति है, अतः कन्यादान अवैध है। परन्तु किसी प्राचीन प्रथा को आज-कल के विचारों की कसौटी पर कसना स्यात् न्याय्य न हो। इसलिए हम को यह देखना है कि हमारे प्राचीन शास्त्र इस विषय मे क्या कहते है।

हेमाद्रि दानखण्ड ने देवल के इस वाक्य को उद्धृत कर के दान के सच्चे स्वरूप को बतलाया है :

पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनपेक्ष्य प्रयोजनम्।
केवलं त्यागबुद्ध्या यत् धर्म्मदानं तदुच्यते ॥

"धर्मदान वह है जो केवल त्याग-बुद्धि से प्रयोजन की अपेक्षा न कर के सत्पात्रों को दिया जाता है।"

प्रयोजन की व्याख्या है : दृष्टफलानुसन्धान। अदृष्ट फल की आकांक्षा दान को दूषित नही करती। श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है :

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ (१७।२०)

"उपयुक्त देश और काल मे अनुपकारी ( अर्थात् जिस से प्रत्युपकार की आशा नही है ) पात्र को 'देना कर्तव्य है' इस बुद्धि से जो दिया जाता है वह सात्त्विक दान है।"

इन अवतरणों से शुद्ध दान के स्वरूप का, उस के अनुषंगियों का बोध तो होता है पर यह वैधानिक परिभाषाएँ नही है। गोविन्दानन्द ने दानक्रिया-कौमुदी मे यह परिभाषा की है :

उद्देश्यगतस्वामित्वजनकत्यागो दानम्।

"दान वह त्याग है जो युगपत् उद्दिष्ट (नामांकित) व्यक्ति मे स्वामित्व उत्पन्न करता है।"

इस का तात्पर्य यह है कि स्वामित्व दाता से आदाता मे चला जाता है। वस्तुतः शब्दान्तर से आज-कल की कानूनी व्याख्या इसी को दुहराती है।

तब फिर प्रश्न यहाँ पर आ कर टिकता है कि क्या लड़की पिता की

सम्पत्ति है ? क्या पिता का उस के शरीर पर स्वाम्य है ? हम वशिष्ठ-स्मृति का वह वाक्य देख चुके हैं जिस मे वह कहते है कि माता-पिता को सन्तान को बेचने, दान करने या अन्य प्रकार से त्याग देने का पूर्ण अधिकार है। निश्चय ही कभी ऐसा माना जाता होगा। शुन.शेफ की कथा वैदिक काल की है। उस के पिता ने उस को हरिश्चन्द्र के हाथ अग्नि को वलि देने के लिए बेच दिया था। पीछे से विश्वामित्र ने उसे वचाया। इस अवसर पर विश्वामित्र ने वहुत कड़ी भापा मे हरिश्चन्द्र और उन के पुरोहित की भर्त्सना की और अग्नि को भी वलि से भी वंचित रहना पडा। सम्भवत तभी से नर-वलि और सन्तान-विक्रय की प्रथा वन्द हो गयी। बाद को सन्तान का बेचना अवैध हो गया और वड़े पातको मे गिना जाने लगा। मनु कहते हैं .

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥

"विद्वान् पिता कन्या के लिए थोड़ा-सा भी शुल्क न ले। लोभवश शुल्क लेने से मनुष्य अपत्यविक्रयी – सन्तान बेचने वाला – हो जाता है।"

इस का तात्पर्य यह हुआ कि पिता अपनी लड़की को बेच नहीं सकता, अतः वह उस के शरीर का स्वामी नही है। जब कन्या उस की सम्पत्ति नही है तो उस का दान भी नही कर सकता।

सम्भव है इस पर यह आरोप उठाया जाये कि पिता का लड़की पर सीमित स्वत्व है। वह उस को बेच नही सकता परन्तु पुण्यार्जन के लिए उस का दान कर सकता है। मान लीजिए कि यह तर्क ठीक है। तब कन्यादान के द्वारा पिता इस सीमित स्वत्व को अपने जामाता को हस्तान्तरित कर सकता है। उस अवस्था मे जामाता को यह अधिकार होगा कि इस स्वत्व को किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित कर दे। परन्तु पत्नी का दान निषिद्ध है। प्राचीन साहित्य मे इस का स्याात् एक ही उदाहरण मिलता है। महाभारत मे यह कथा आयी है कि किसी राजा

ने जिस का नाम मित्ररुह, सौदास या कलमाषपाद था, अपनी पत्नी मदयन्ती को वशिष्ठ को दान में दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथा अर्थवादात्मक है और इस का उद्देश्य दान की प्रशंसा करना है। स्त्री सर्वथा अदेय मानी जाती है और नारदस्मृति के अनुसार अदेय को देने और लेने वाले को राजदण्ड लगता है। अतः पति को पत्नी पर ऐसा कोई स्वत्व नहीं है। दूसरे शब्दों मे उस को श्वसुर से ऐसा कोई स्वत्व नही मिला। इस का तात्पर्य यह हुआ कि पिता को कन्या पर ऐसा कोई स्वत्व—दान करने का अधिकार—नही है। पिता अपनी लडकी के शरीर का पूरा या आशिक स्वामी नही माना जा सकता। इस लिए कन्या दान वैध नही है। इस सम्बन्ध मे श्रीकृष्ण ने महाभारत मे उल्लेखयोग्य बात कही है। जब उन की बहन सुभद्रा का अर्जुन के साथ विवाह हुआ तो उन के भाई बलदेव तथा अन्य लोगों ने भी यह आपत्ति की कि विवाह सत्कुलोचित ब्राह्म ढंग से होना चाहिए था, इस पर श्रीकृष्ण ने कहा :

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते।

"पशु की भाँति कन्या के दान का अनुमोदन कौन करता है।"

इस का भी तात्पर्य स्पष्ट है कि पशु सम्पत्ति हो सकता है, कन्या नही।

दूसरे प्रकार से विचार कर के भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है। जहाँ स्वाम्य होता है वहाँ उपभोज्यता भी होती है अर्थात् वस्तु का स्वामी यदि चाहे तो किसी न किसी प्रकार अपनी सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है। प्रश्न यह है कि क्या पिता को कन्या के शरीर पर ऐसा कोई अधिकार है ? यदि लड़की यावज्जीवन अविवाहिता रह जाये तो क्या पिता उस के शरीर का कोई वैध उपयोग कर सकता है ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यह है कि ऐसा नही हो सकता। तब फिर यह नही कहा जा सकता कि पिता को कन्या के शरीर पर किसी प्रकार का स्वाम्य है।

दूसरे प्रमाण भी हम को इसी ओर ले जाते है। स्मृतियों और तत्सम दूसरी पुस्तकों मे बार-बार यह कहा गया है कि ब्राह्म विवाह उसी

कन्या से हो सकता है जो प्रत्ता या दत्ता हो। इस में स्पष्ट ही कन्यादान की ओर संकेत है। रत्नाकर के अनुसार: प्रदानं स्वाम्यकारणम्। प्रदानेनैव कन्यायां वरस्य स्वाम्यं जायते दातुः स्वाम्यं निवर्तते—"प्रदान ही स्वाम्य का कारण है। प्रदान से ही कन्या मे वर का स्वाम्य उत्पन्न होता है दाता का स्वाम्य निवृत्त होता है।" यही बात यम कहते हैं: नोदकेन विना चायं कन्यायाः पतिरुच्यते अनुत्पादितस्वत्वायाः कन्यायाः पाणिग्रहणसंस्कारात् पति स्वामिस्वत्ववान्न—"संकल्पपूर्वक कन्यादान के बिना यह ( वर ) कन्या का पति नही कहलाता···यदि इस प्रकार कन्या पर स्वत्व न उत्पादित हो गया हो तो पाणिग्रहण संस्कार-मात्र से पति कन्या का स्वामी नही हो सकता।" परन्तु हम पहले देख चुके है कि पिता स्वयं कन्या का स्वामी नही है अतः वह दूसरे को स्वाम्य कैसे हस्तान्तरित करेगा? इस का तात्पर्य यह हुआ कि कन्यादान के द्वारा वर को कन्या पर कोई स्वत्व, कोई अधिकार नही प्राप्त होता। इस दशा मे कन्यादान निरर्थक कृत्य है।

अन्य प्रकार से भी इस मत की पुष्टि होती है। यह स्मृतिसम्मत लोकाचार है कि यदि सप्तपदी के पहले वर की मृत्यु हो जाये तो कन्या का दूसरा विवाह हो सकता है। इतना ही नही, याज्ञवल्क्य तो यहाँ तक कहते हैं:

दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्।

"यदि पहले से श्रेष्ठ वर मिल जाये, तो दी हुई कन्या को लौटा ले।"

यह आदेश तो बहुत अच्छा है परन्तु इस से कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़े होते हैं। स्वयं याज्ञवल्क्य ने अन्यत्र कहा है:

सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तां चौरदण्डभाक्।

"कन्या एक बार दी जाती है, उस को हरने से चोरी का दण्ड लगता है।"

यदि कन्यादान से वर सचमुच कन्या का स्वामी हो जाता है तो फिर कन्या को हरने वाला निश्चय ही चोर है। परन्तु उस दशा मे पिता उस

को लौटा कर दूसरे वर से, चाहे वह कितना भी योग्य क्यो न हो, कैसे विवाह कर सकेगा ? और फिर सप्तपदी के पहले वर के मर जाने पर उस का दूसरा विवाह कैसे हो सकेगा ? कन्यादान के बाद वह वर की सम्पत्ति हो गयी और वर के मरने पर वर के दायादों की, उस की अन्य सम्पत्ति पर सत्ताधारियों की सम्पत्ति हो गयी। वह चाहे जो करें परन्तु पिता का उस पर कोई अधिकार नही रहा। परन्तु स्मृतियो के स्पष्ट आदेश यह बतलाते हैं कि सप्तपदी तक पिता को अधिकार रहता है। अतः कन्यादान से वर को कन्या पर स्वाम्य नहीं प्राप्त होता, अन्यथा यह मानना पड़ेगा कि श्वसुर अपने जामाता का दायाद होता है, जो धर्मशास्त्र के सर्वदा विरुद्ध है।

ऐसा नही समझना चाहिए कि प्राचीनकाल मे किसी को इस सम्बन्ध में शंका नही होती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र के भाष्य मे कर्क ने कन्यादान के प्रश्न पर सुन्दर विचार किया है। उन के तर्क की तह में वही सिद्धान्त है जिस के अनुसार आज भी सम्पत्ति का हस्तान्तरण होता है। वह कहते है :

'आदाय गृहीत्वेति चोभयं न वक्तव्यम्' उच्यते च तत्किमर्थम् ?
अप्रतिग्रहस्यापि प्रतिग्रहविधिना आदानं यथा स्यादिति।
स्वस्वत्यागपूर्वकं हि परस्वत्वापादनं दानम्। न च कन्या कथं-
चिदप्यस्वकन्या कर्तुं शक्यते, नापि परस्य कन्या भवति, विवाह-
स्योत्तरमपि ममेयं कन्येत्यभिधानात्। अत्र गौणो ददातिः ॥

"ले कर, ग्रहण कर के, ऐसा नहीं कहना चाहिए। परन्तु कहा जाता है, वह क्यों ? इस लिए कि अप्रतिग्रह का भी प्रतिग्रह की विधि से आदान हो जाये। स्वस्वत्वत्यागपूर्वक दूसरे मे स्वत्व का आपादन दान होता है। परन्तु कन्या कभी भी अस्वकन्या नही की जा सकती, न वह दूसरे की कन्या होती है। विवाह के पीछे भी पिता उस को 'मेरी कन्या' कहता है। यह 'दान' शब्द का प्रयोग गौण है।"

इस का अर्थ स्पष्ट है। कन्या सदा पिता की लडकी रहती है, पति की लड़की नही होती। जो सम्वन्ध पिता का उस के साथ विवाह के पहले था, वह पीछे भी वना रहता है। अत. न पिता किसी स्वत्व का त्याग करता है, न पति कोई स्वत्व प्राप्त करता है। इस लिए कन्यादान वास्तविक दान नही है। यो ही व्यवहार मे इस को दान कहते है। यह उस ढंग की क्रिया है जिस को अँगरेजी कानून के शब्दो मे 'लीगल फिक्शन', वैधानिक अलीक कहते है। ऐसे अलीको से समाज में वहुत काम लिया जाता है। जिन स्त्रियो का आजन्म विवाह नही होता वह कभी-कभी कुमारीपन का दोप मिटाने को पेड से विवाह कर लेती है। कन्यादान भी ऐसा ही कृत्य है। लड़की का पितृगृह छोड़ कर पतिगृह मे रहना कल्पित दान के द्वारा वैध वना दिया गया है।

और भी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस प्रसंग मे उठते है। यदि कोई व्यक्ति उस भाव से दान देता है जिस का उपदेश श्रीकृष्ण ने गीता मे किया है, यदि उस का स्वत्वत्याग शुद्ध दातव्यवुद्धि प्रेरित है, तव तो कुछ कहना नही है। वह अपने कर्तव्य का पालन कर चुका। यदि ऋतसत्यात्मक कर्मसिद्धान्त के अनुसार उस को इस कृत्य से पुण्य की उपलव्धि होती है तो वह उस को यदृच्छया ग्रहण कर लेगा। परन्तु यदि कोई वस्तु किसी फलविशेष की आकाक्षा से दान की जाये, चाहे वह फल भौतिक या दृष्ट न भी हो, तो फिर कई उलझने उठ खड़ी होती है। आदाता को भी वह शर्त स्वीकार होनी चाहिए। यदि दाता एक उद्देश्य से दान करता है, आदाता किसी दूसरे उद्देश्य से ग्रहण करता है तव तो कठिनाई होगी। दान समीचीन होगा ही नही। किसी महत्त्वपूर्ण शास्त्र-सम्मत संस्कार की पद्धति मे ऐसी द्विविधा के लिए स्थान नही होना चाहिए; परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि कन्यादान के विषय मे गहरा द्वैविध्य है।

दाता का उद्देश्य तो कन्यादान के सकल्प से ही प्रकट हो जाता है। वह अपने लिए और अपने कुल के चौवीस अन्य व्यक्तियो के लिए नरक

से त्राण और स्वर्ग मे अक्षय्य निवास चाहता है। परन्तु क्या आदाता भी कन्या को इसी लिए ग्रहण करता है ? इस में सन्देह है।

पहली बात तो यह है कि वह अपने और पूर्वजों के लिए ऐसी सुविधाएँ चाहता है, मरने के उपरान्त ससुराल वालों की क्या गति होगी इस की उस को विशेष चिन्ता नही है। फिर इस स्थल पर हम को वाग्दान और वरण की ओर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि आज-कल इन का महत्त्व पहले-जैसा नही है फिर भी विवाह के दूसरे अंगों पर इन से प्रकाश पड़ता है। इन मे आने वाले मन्त्रो का अब भी थोड़ा-बहुत उपयोग होता है।

द्राह्यायण गृह्यसूत्र के अनुसार वर के सम्बन्धियो को चाहिए कि वर का नाम, गोत्र आदि बतला कर कन्या के पिता से कहें, **धर्मप्रजार्थं वृणीमहे** और कन्या का पिता कहे, **दास्यामि**। **धर्म्मप्रजार्थं वृणीमहे** का अर्थ हुआ : "हम धर्मप्रजा के लिए वरण करते है," अर्थात् इसलिए कि इस से धर्मप्रजा हो, ऐसी सन्तति जो धर्मशास्त्र के अनुसार औरस हो अथवा जो स्वयं धर्मचारिणी हो। कन्या का पिता 'दूँगा' कह कर इस माँग को स्वीकार करता है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र मे धर्मप्रजार्थ की जगह **प्रजासहत्वकर्म्मभ्यः** आया है। वरण के उपरान्त कन्या को कौषीतक गृह्यसूत्र के अनुसार यह आशीर्वाद दिया जाता है :

**प्रजास्त्वयि दधामि, पशूंस्त्वयि दधामि, तेजो ब्रह्मवर्चस्यं त्वयि दधामि**

"तुझ मे प्रजा ( सन्तति ) धारण करता हूँ, तुझ में पशु ( अर्थात् धन ) धारण करता है, तुझ मे ब्रह्मवर्चस्तेज धारण करता हूँ।" संकेत यह है कि विवाह के फलस्वरूप कन्या को यह वस्तुएँ प्राप्त होगी।

संस्कार पद्धति के अनुसार वाग्दान के समय कन्या का पिता कहता है :

वाचा दत्ता मया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता त्वया।
कन्यावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखी भव ॥

"कन्यावलोकन विधि के द्वारा आपने अपने पुत्रके लिए मेरी वाग्दत्ता कन्या को स्वीकार किया है। आप सुखी हों।" और वर का पिता कहता है :

वाचा दत्ता त्वया कन्या पुत्रार्थं स्वीकृता मया।
वरावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखी भव ।

"आपने वरावलोकन विधि से जो कन्या का वाग्दान किया उसे मैंने अपने पुत्र के लिए स्वीकार किया। आप सुखी हो।"

अग्निवेश्य गृह्यसूत्र के अनुसार विवाह के अन्त मे वर कहता है: अनया सह मया कर्म्माणि कर्तव्यानि। प्रजाश्चोत्पादयितव्याः, तदर्थं एनां परिणेष्ये।

"इसके साथ मुझे ( वैदिक ) कर्म करने है और प्रजा ( सन्तान ) भी उत्पन्न करनी है, इसलिए इस से विवाह करता हूं।"

वैदिक कर्म अर्थात् यज्ञ सस्त्रीक ही हो सकते है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का स्पष्ट कहना है कि : अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः—"जो पत्नीहीन है वह अयज्ञिय, यज्ञ का अनधिकारी है।" इसीलिए वर कहता है कि मुझे इस के साथ कर्म करने है। यही बात ऋग्वेद के सूर्याविवाह प्रकरण मे कही गयी है। वर कन्या से कहता है कि तुम वीरसू और देवकामा, वीर पुत्रो की माता और देवकार्य मे चित्त देने वाली बनो।

इस सारी बात-चीत में कही कन्या के पिता के कुटुम्बियों की चर्चा नही है। वर के हित के लिए विवाह हो रहा है। ताकि उस को सन्तान हो और वह यज्ञ कर सके। यज्ञ करने का फल वर को ही मिल सकता है, उस के ससुराल वालो को नही। कही भी पंचमहायज्ञ या इष्टापूर्त के संकल्प मे यह बात नही कही जाती कि इस कृत्य का फल यजमान के श्वसुर को मिले। वर कन्या का हाथ पकड़ते समय पाणिग्रहण के अवसर पर कन्या से कहता है :

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

( ऋक् १०।८५।३६ )

"मै तेरा हाथ सौभाग्य के लिए पकड़ता हूं जिस से तू मुझ पति के

साथ वृद्धा हो ( अर्थात् हम दोनो बहुत दिनों तक जियें ) । भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि ( पूषा ) देवों ने तुझे मुझ को गार्हपत्य के लिए दिया है। इसलिए दिया है कि मैं गृहपति बनूँ ।"

वरण और वाग्दान मे यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि वर कन्या को किसलिए चाहता है और कन्या के पिता ने उन शर्तों को स्वीकार किया है। उस ने किसी स्थल पर दूसरी शर्त नही रखी, अपने या अपने पूर्वजों के हित का नाम नही लिया, नही तो सम्भव था कि वर पक्ष इस शर्त पर कन्या का ग्रहण न करता। अब सब बातों के तय हो जाने पर वह किसी नयी शर्त का प्रक्षेप नहीं कर सकता। वह यह नही कह सकता कि मै इस कन्या को अपने कुल के कुछ व्यक्तियों के हित के लिए दे रहा हूँ। कन्यादान का संकल्प उन बातों के प्रतिकूल है जिन के आधार पर विवाह निश्चित हुआ था, अतः कन्यादान अवैध है।

प्राचीनकाल मे ऐसा नही था। आज जो उद्देश्य संकल्प मे बताया जाता है वह पीछे से जोड़ा हुआ प्रतीत होता है। कन्यादान के पुराने संकल्प का रूप वैखानस गृह्यसूत्र मे मिलता है। उस के अनुसार कन्या का पिता कन्या इसलिए देता है: **अस्य सहधर्म्मचारिणी भवतीति ब्राह्मे विवाहे धर्म्मप्रजासम्पत्त्यर्थं यज्ञापत्त्यर्थं ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थं**–"इस की सहधर्मचारिणी हो इसलिए ब्राह्मविवाह मे धर्मप्रजा की उत्पत्ति के लिए, यज्ञ सम्पादन के लिए और ईश्वर, देवगण, ऋषिगण और पितृगण की तृप्ति के लिए ( वर को कन्या देता है )।" यह संकल्प परिपूर्ण है और सर्वथा वेदसम्मत है तथा वरण, वाग्दान और पाणिग्रहण मे जो सिद्धान्त अन्तर्हित है उन के अनुकूल है।

इन सब बातों को ध्यान मे रखते हुए डॉक्टर आल्टेकर ने 'दि पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन' मे जो यह मत प्रकट किया है वह ठीक प्रतीत होता है:

"यह बतला देना चाहिए कि कन्या का दान उपचारमात्र था।

उस से पति को यह अधिकार नही मिलता था कि पत्नी से चाहे जैसा बरताव करे। जिस वस्तु को मनुष्य यज्ञाग्नि के सामने पवित्र दान के रूप मे प्राप्त करता है वह वस्तुत. ऐसी थाती है जिस के समुचित प्रतिपालन के लिए वह ईश्वर के प्रति दायी है।" सच बात तो यह है कि न केवल पति वरन् दम्पती अपने ऊपर एक पवित्र कर्त्तव्य लेते है। वह यह संकल्प तो करते नही कि हम वधू के पिता और उन की आगे-पीछे की पीढियो को पापो के दण्ड से मुक्त करा देंगे, हाँ उन कर्मो का व्रत लेते हैं जो प्रत्येक गृहस्थ के लिए करणीय है। ऐसे कर्मो का याज्ञवल्क्यस्मृति के पंचम अध्याय मे विशद वर्णन है और कालोचित व्याख्या के साथ उन का महत्त्व आज भी उतना ही है।

थोड़ी देर के लिए हम कन्यादान की वैधता के प्रश्न को छोड़ देते है और इस बात पर विचार करेंगे कि उस से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है।

ऐसा माना जाता है कि कन्यादान से वर कन्या का स्वामी बन जाता है, हम इस मत की आलोचना कर चुके है और यह दिखला चुके है कि वर कभी भी कन्या का स्वामी नही होता। इस दृष्टि से तो कन्यादान निरर्थक है। अब यदि यह निश्चय हो कि वर-कन्या को पति-पत्नी बनाने मे कन्यादान का कोई उपयोग हो तब भी उस की सार्थकता हो सकती है। वर-कन्या मे पतित्व और पत्नीत्व किस क्षण मे आता है इस सम्बन्ध मे शास्त्रो का एक मत नही देख पड़ता। द्राह्यायण गृह्यसूत्र की वृत्ति मे वरण का वर्णन करते हुए रुद्रस्कन्द ने पत्युर्ज्ञातय.—'पति के जातिवाले'—प्रयोग किया है। यह लोग वध्वा.—'वधू के'—घर जाते है। कन्यादान होने के पहले ही पति और वधू शब्दो का व्यवहार विचित्र है। इस से इतना तो प्रतीत होता है कि सामान्य बोलचाल मे ऐसा प्रयोग हो जाता था।

एक और विचारणीय बात है। यदि यह मान भी लिया जाये कि कन्यादान से किसी प्रकार के स्वत्व का उत्पादन होता है तो यह काम एकांगी होगा। वर को तो कन्या पर अधिकार मिला परन्तु कन्या को

क्या मिला ? उस के लिए 'अधिकार' शब्द का व्यवहार उतना ही उचित होगा जितना कि पाले हुए पशु के लिए। यदि यह माना जाये कि गाय बकरी को अपने स्वामी से भरण-पोषण पाने का अधिकार पत्नी को भी वर से होगा। इसीलिए वह भार्या कहलाती भी है। एक अन्तर है। भेड़ बकरी को सब कुछ चुपचाप सहना पड़ता है, भार्या रोटी कपड़े के लिए न्यायालय के द्वार खटखटा सकती हैं।

विवाह का समानार्थक उद्वाह है। इन शब्दों का व्यवहार शिक्षित, अशिक्षित, बाल, वृद्ध सभी करते है और इन का अर्थ भी सुबोध, सब का जाना हुआ है। परन्तु जो वस्तु सामान्य मनुष्य को सुबोध लगती है उसी मे कभी-कभी विद्वानों को शंका हो जाती है। साधारण मनुष्य ऐसा मानता है कि विवाह वह कृत्य या उपचार है जिस के परिणामस्वरूप स्त्री-विशेष पुरुष-विशेष की पत्नी और वह पुरुष उस का पति हो जाता है। स्मृतितत्त्वम् के अनुसार भार्य्यात्वसम्पादकं ग्रहणं विवाहः— "भार्य्यात्व (और अर्थापत्ति से पतित्व) सम्पादक ग्रहण को विवाह कहते है।" यह परिभाषा तो बोलचाल के अनुकूल ही है, परन्तु इस मे ग्रहण-शब्द विचारणीय है। ग्रहण से यह ध्वनि निकलती है, किसी से ग्रहण, किसी से स्वीकृति या प्राप्ति। विवाह के लिए यह आवश्यक होगा कि कोई किसी से कुछ ले। विवाह की समूची पद्धति मे देने-लेने की बात वरण, वाग्दान और कन्यादान मे देखी जाती है। कन्यादान प्रकरण मे वर को प्रतिग्रहीता कहा भी जाता है। तो क्या इस से यह मान लिया जा सकता है कि कन्यादान पर विवाह सम्पूर्ण हो जाता है अर्थात् पाणिग्रहण और सप्तपदी के पहले ही सम्पन्न हो जाता है ? इस कल्पना का समर्थन एक अप्रत्याशित स्थल से मिलता है। हरिवंश महाभारत का पूरक ग्रन्थ माना जाता है और पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। लोगों को ऐसा विश्वास है कि उस को पढ़ने और सुनने तथा उस की प्रति ब्राह्मण को देने से निःसन्तानों को भी सन्ततिलाभ होता है। उस मे त्रिशंकु उपा-

स्थान नाम की कथा आयी है। इस का संक्षिप्त कथानक यह है कि राजा त्रय्यारुण के लड़के सत्यव्रत ने किसी लडकी को विवाहमण्डप से हर लिया। उस के इस कृत्य से रुष्ट हो कर पिता ने घर से निकाल दिया और जंगल मे श्वपचो के साथ रहने का आदेश दिया। अन्त मे विश्वामित्र की सेवा से उस के पाप का प्रायश्चित्त हुआ। सत्यव्रत के इस निन्दनीय कार्य का वर्णन इन शब्दो मे किया गया है :

पाणिग्रहणमन्त्राणां विघ्न चक्रे स दुर्मतिः।
येन भार्य्या हृता पूर्वं कृतोद्वाहा परस्य वै॥

'उस दुर्मति ने जिस ने पहले से उद्वाह की हुई दूसरे की भार्या को हर लिया था पाणिग्रहण मन्त्रो मे विघ्न डाला।"

इस श्लोक की भाषा अद्भुत है। हरिवश-जैसी प्रशस्त पुस्तक मे आने से विचार को और भी खीचती हैं। एक स्त्री किसी की भार्या थी, इतना कहना ही पर्याप्त था परन्तु कृतोद्वाहा ( उद्वाह की हुई, विवाहिता ) कह कर उस बात की और पुष्टि कर दी गयी। विवाहिता भार्या कहना वैसा ही है, जैसे आज-कल पत्नी की जगह धर्मपत्नी कहने का चलन बढ गया है। अस्तु, जब भार्या हरी गयी तो विवाह के पीछे ही ऐसा हुआ होगा। परन्तु यहाँ कहा गया है कि पाणिग्रहण मन्त्रो मे विघ्न डाला गया, पाणिग्रहण नही होने पाया। तो फिर क्या पाणिग्रहण के पहले ही स्त्री भार्या हो जाती है और विवाह पूरा हो जाता है ? यदि ऐसा होता है तो फिर पाणिग्रहण और सप्तपदी का उपयोग क्या है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह शब्द के शास्त्रीय अर्थ मे काल पा कर कुछ परिवर्तन हुआ है। स्मृतितत्त्वम् के अनुसार विवाहस्तु पाणिग्रहणात्पूर्वं वृत्त एव—"विवाह तो पाणिग्रहण के पूर्व ही हो चुकता है।" यह वाक्य हरिवश मे दिये हुए प्रयोग के अनुसार है। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिग्रहण के पूर्व के तीनो कृत्यो—वरण, वाग्दान और कन्यादान—के समुच्चय को किसी समय विवाह कहते थे। परन्तु यह नही पता चलता

कि पाणिग्रहण और सप्तपदी का कोई संयुक्त नाम था या नही। यह भी ज्ञात नही होता कि सम्पूर्ण कृत्य को क्या कहते थे। यह तो स्पष्ट ही है कि विवाह शब्द का यह प्रयोग संस्कारगणपति के इस कथन के सर्वथा प्रतिकूल है :

**वाग्दानं च प्रदानं च वरणं पाणिपीडनम् ।**
**सप्तपदीति पञ्चाङ्गो विवाह. परिकीर्तित: ॥**

"विवाह पंचांग कहलाता है। उस के यह अंग है : वाग्दान, प्रदान, ( कन्यादान ), वरण, पाणिपीडन ( पाणिग्रहण ) और सप्तपदी।"

इसी प्रकार मनु ने एक जगह विवाह शब्द का भ्रमोत्पादक प्रयोग किया है। वह कहते है : **स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे**—"नारी विवाह से सातवें पद पर अपने गोत्र से पृथक् होती है।" अर्थात् पति के गोत्र मे मिल जाती है। 'विवाह से सातवे पद पर' का कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता। सातवाँ पद तो सप्तपदी का अन्तिम पद हुआ। यदि यह विवाह से सातवाँ पद है, तो फिर विवाह किस को कहते है ? क्या पाणिग्रहण की समाप्ति का नाम विवाह है। यह भी बोलचाल का ढीला प्रयोग है, शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नही है।

यह प्राय. सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि सप्तपदी के अन्तिम पद पर विवाह की विधि पूरी होती है। स्मृतितत्त्वम् के अनुसार **कृत्स्नं हि जायापतित्वं सप्तमे पदे**—"सम्पूर्ण जायापतित्व ( पति-पत्नीसम्बन्ध ) सप्तम पद पर ( उत्पन्न होता है या सम्पन्न होता है )।" मनु भी कहते है .

**पाणिग्रहणिका मन्त्रा. नियतं दारलक्षणम् ।**
**तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भि. सप्तमे पदे ॥**

"पाणिग्रहण के मन्त्र निश्चय ही पत्नीत्व के लक्षण है। विद्वान् लोग जानते है कि उन की निष्ठा ( उन की समाप्ति ) सप्तम पद पर होती है।"

इसी बात को यम भी कहते है :

**नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरिष्यते ।**
**पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे ॥**

"उदक ( कन्यादान ) या वाग्दान से कन्या का पति नही कहलाता। पतित्व पाणिग्रहण संस्कार से सातवें पद पर होता है।"

यहाँ 'पाणिग्रहण संस्कार से' कहना कुछ अनावश्यक-सा प्रतीत होता है और भ्रामक भी हो सकता है। सप्तम पद तो सप्तपदी का अंग है। मनुस्मृति के भाष्य मे कुल्लूक भट्ट ने इस के पहले दिये श्लोक के पाणि-ग्रहणिकामन्त्राः' (पाणिग्रहण के मन्त्र) की व्याख्या वैवाहिक मन्त्र किया है। उन का तात्पर्य है कि ऐसे स्थलों मे विवाह की जगह पाणिग्रहण लिख दिया गया है। यही बात यमस्मृति से उद्धृत श्लोक के लिए भी लागू है।

इन सब बातो से यह सिद्ध होता है कि पति-पत्नी सम्बन्ध सप्तपदी के अन्तिम पद पर स्थापित होता है। इस के पहले जो कुछ होता है वह प्रस्तावना मात्र है। आधुनिक व्यवहार भी यही है, न्यायालय भी इसी बात को मानते हैं। सम्पत्ति-सम्बन्धी बहुत-से अभियोगो की सफलता असफलता इसी बात पर टिकती है कि सप्तपदी यथावत् हुई या नही। यदि इस मे कुछ भी त्रुटि प्रमाणित हुई तो ऐसा माना जायेगा कि विवाह हुआ ही नही।

कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि कन्या तो सप्तपदी के बाद ही भार्या होती है परन्तु वर कन्यादान के साथ ही उस का स्वामी हो जाता है। पर यह पक्ष तो सर्वथा अमान्य है। पहले तो मैं यह दिखला आया हूँ कि कोई व्यक्ति स्त्री के शरीर का कभी भी स्वामी नही हो सकता। दूसरे, यह प्रश्न उठता है कि कन्यादान और सप्तपदी के बीच मे वैधानिक अवस्था क्या है ? वर स्वामी है पर पति नही है, कन्या सम्पत्ति है परन्तु पत्नी नही हैं। क्या वास्तविक स्थिति ऐसी ही है ? मान लीजिए कि कन्यादान के बाद ही कोई वर उठ खड़ा हो और शेष कृत्य रोक दे तो क्या होगा। स्त्री उस की भार्या तो हुई नही, इस लिए उस को पत्नी के अधिकार प्राप्त नही हुए। वह वर की सम्पत्ति हो गयी। उस को इस बन्धन से छुड़ाने की कोई विधि शास्त्रो मे नही दी है। तो क्या वर उस को अपने

घर क्रीत दासी की भाँति ले जा सकता है ? यदि प्रदानः स्वाम्यकारणम्—का सिद्धान्त ठीक है तो उस को ऐसा अधिकार होना चाहिए। परन्तु यह तो शास्त्रों का उद्देश्य नहीं हो सकता। देव, ऋषि, पितृगण इस लिए तो नहीं पुकारे जाते कि किसी पुरुष के हाथ में दासी, या गाय बकरी की भाँति सम्पत्ति के रूप मे एक निरीह अबला सौप दी जाये। इस का बचाव यों कह कर नही किया जा सकता कि वर कन्यादान पर केवल स्वामी होता है, पति सप्तपदी पर होता है, परन्तु कन्या कन्यादान के साथ ही पत्नी हो जाती है। भार्य्यात्वानुनिष्पादि पतित्वम्—"भार्यात्व के साथ ही पतित्व निष्पन्न होता है।" यहाँ 'अनु' का अर्थ क्षणान्तर नही प्रत्युत युगपत् ही करना होगा। पति और पत्नी, भर्ता और भार्या, अन्योन्याश्रित है, इन मे अन्वयव्यतिरेकी सम्बन्ध है। जहाँ एक होगा, वहाँ दूसरा होगा। न बिना भार्या के भर्ता हो सकता है, न बिना भर्ता के भार्या हो सकती है। अतः कन्यादान यह नही कर सकता कि वर को स्वामी तो बना दे पर कन्या को भार्या न बनाये। परन्तु जब यह स्पष्ट है कि कन्या सप्तपदी के अन्तिम पद पर ही भार्या होती है तो वर भी उसी समय भर्ता होता होगा। कन्यादान से वर को कोई अधिकार नही प्राप्त होता।

इन सब तर्कों से यह स्पष्ट है कि कन्यादान से न किसी स्वत्व का सर्जन होता है न विसर्जन और न हस्तान्तरण। कन्यादान के पूर्व और पश्चात् वर और कन्या के परस्पर सम्बन्ध मे कोई अन्तर नही पड़ता, उन मे कोई नया सम्बन्ध स्थापित नही होता। यदि कन्यादान इस उद्देश्य से किया जाता हो कि पिता और उस के पूर्व तथा परवर्ती कुटुम्बियों को अपने पापों से छुटकारा पाने का सस्ता उपाय हाथ लग जाये तो इस उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती। यदि कन्यादान के यही अभिप्राय है तो वह निष्फल क्रिया है और किसी प्रकार की हानि की आशंका के विना विवाह की पद्धति से निकाली जा सकती है।

●

# कन्यादान का वास्तविक भाव

तीसरे अध्याय को पढने के बाद सम्भव है ऐसा प्रतीत हो कि मै कन्यादान को व्यर्थ समझता हूँ और यह चाहता हूँ कि विवाह की पद्धति मे से उसे निकाल दिया जाये। वस्तुतः मेरा यह अभिप्राय नही है। मेरी शिकायत यह है कि हम कन्यादान के वास्तविक भाव को भूल गये है। मेरा अभियोग यह है कि हिन्दू समाज के सहज नेताओ, हमारे ब्राह्मणो ने हमारे बहुत से कृत्यो और संस्कारो को, जिन मे-से कन्यादान भी एक है, तमाशा बना डाला है। कुछ थोड़े से वैदिक मन्त्रो मे बहुत से नये अनुष्टुप् श्लोक मिला दिये गये, यज्ञ जो मुख्य कृत्य था एक कोने मे डाल दिया गया, वैदिक देवताओ को पौराणिक देव-देवियो ने दबा लिया। इस प्रकार समूचा रूप ही बदल जाता है। आर्यजाति के पूर्व पुरुपो, ऋपियो और मनुओं का उद्देश्य लुप्तप्राय हो जाता है और उन की जगह क्षुद्र भावनाएँ बैठा दी जाती हैं। आज हिन्दू विवाहपद्धति नीरस हो गयी है और उस से जी ऊब उठता है। उभय पक्ष के पुरोहित न जाने क्या पढते है जिस का वर-कन्या से कोई सम्बन्ध नही देख पड़ता, कुछ वाक्यो का अनुवाद मातृभाषा में कर भी दिया गया तो ऐसा करने का ढंग प्रभावोत्पादक नही होता।

मेरा आक्षेप संस्कृत भाषा पर नही है। मेरी राय है कि संस्कृत का ही व्यवहार होना चाहिए अन्यथा हिन्दू विवाह मे संस्कार का रूप ही न रह जायेगा। प्रदेश-प्रदेश, वर्ण-वर्ण की अलग भापा हो कर विवाह साधारण व्यापारी इकरारनामो-जैसी चीज़ बन जायेगा। लैटिन भाषा का प्रयोग

पृथ्वी-भर के रोमन कैथॅलिक करते है परन्तु अपने संस्कारो के गाम्भीर्य को नही बिगड़ने देते। आवश्यकता इस बात की है कि पुरोहितवर्ग, और उस से भी पहले हमारा पण्डितसमाज, स्वयं विवाह के अंगो के भेद को समझे और फिर विवाह काल मे वर-कन्या को समझाये।

मेरी समझ मे कन्यादान का महत्त्व बहुत बड़ा है। हम देख चुके है कि विवाह पंचांग है। पहले के दो अंगों मे वर-कन्या के अभिभावको और दूसरे गुरुजनों मे बातचीत हुई है। उन्हों ने सब बातों को देख कर सम्बन्ध स्थिर किया है। ऐसा मानना चाहिए कि भावी दम्पती को इन बातो का पता होगा परन्तु अब तक प्रत्यक्ष रूप से उन का काम नही पडा। यह बात अब तीसरे अंग, कन्यादान मे होती है। वर और कन्या का एक-दूसरे से परिचय होता है। परन्तु केवल इतनी बात नही है। परिचय के साथ-साथ कन्या का पिता वर से यह प्रार्थना करता है कि आप इस कन्या को ले लीजिए और वर इस प्रार्थना को स्वीकार करता है। यही प्रतिग्रह है। परन्तु प्रतिग्रह—कन्या को देने और लेने—का उद्देश्य वह नही है जो आज लोक मे प्रचलित है। पिता का कन्या पर कोई स्वत्व नही है जिसे वह वर को हस्तान्तरित कर सकता हो। यह भी नही है कि लड़की उस के लिए भार हो गयी है, वह इस बोझ को दूसरे के कन्धों पर फेंकना चाहता है। बात दूसरी ही है। कन्या का पिता वर को अधिकार नही वरन् कर्तव्य सौपना चाहता है। देने-लेने का इस प्रसंग मे यही अर्थ है। अब तक उस ने लड़की का भरण-पोपण किया और उस को ऐसी दैहिक और बौद्धिक शिक्षा दी कि वह समाज मे अपने यथोचित स्थान को प्राप्त करना तभी पूरा होता है जब उस स्थान के उपयुक्त कर्तव्यों का पालन किया जा सके, नही तो ऊँचे से ऊँचे स्थान से भी स्खलन होता है। अब वयस्का होने पर लडकी को जिन कर्तव्यो का वहन करना है वह पति के साथ ही उठाये जा सकते हैं। जिस दिन के लिए पिता ने कन्या को पाला था, वह दिन आया। यह उस का सौभाग्य

है कि वह उस के लिए योग्य वर, अनुरूप जीवनसंगी ढूँढ सका। अव वह उन दोनो को धर्म की दुर्गम घाटी मे प्रवेश करने का आह्वान करता है। सचमुच धर्म का पथ क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया—"छुरे की पतली तीखी धार है।" कभी-कभी पारिजात की मधुर गन्ध भी आ जाती है परन्तु कर्तव्य का पालन करना काँटो की सेज पर सोने के समान है। वर-कन्या को अव इस पथ का पथिक वनना है। कन्यादान मे उन को इस की सूचना दी जाती है। अव तक का उन का जीवन इस के लिए तैयार था। कन्यादान दान नही समर्पण है। कन्या समर्पित की जाती है परन्तु वर की सेवा के लिए नही, वर के माध्यम से सनातन, शाश्वत धर्म की सेवा के लिए।

दम्पती का पहला कर्तव्य गृहस्थाश्रम को अक्षुण्ण रखना है। स्त्री और पुरुष का रतिसम्बन्ध तो पशु-पक्षियो के ढंग पर भी हो सकता है। वासना से प्रेरित हो कर मिल जाना और फिर अलग हो जाना सम्भव है परन्तु इस आधार पर समाज नही टिक सकता। वड़े पशु-पक्षी तक में कौटुम्बिक जीवन का सरल रूप विद्यमान है, वर्वर मनुष्य भी कुटुम्व वना कर रहता है। और जहाँ कुटुम्व है, वहाँ कर्तव्यों की शृंखला है। और स्वेच्छाचारिता पर अंकुश है। मनु कहते है :

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यः तेभ्यः कार्य्यं विजानता॥

"जैसे सव प्राणी वायु के आश्रित हो कर जीते है, इसी प्रकार सव आश्रम गृहस्थ के आश्रित हो कर जीते है। ऋषि, पितृ, देव, इतर प्राणी, अतिथि सव कुटुम्बियो से आशा रखते है। ज्ञानी को उन के प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।"

जगली अवस्था मे जहाँ सव केवल अपने लिए जीते हों मनुष्य चाहे जैसे

रह ले परन्तु समाज मे तो सब का सब से सम्बन्ध है। यदि समाज को उन्नत रखना है तो विद्यार्थियों के लिए, श्रमिकों के लिए, सैनिकों के लिए, विद्वानों के लिए, धर्माचार्यों के लिए, रोगियों के लिए, वृद्धों के लिए भोजनादि की व्यवस्था करनी होगी, जो छोटा है उस को कर्तव्य सिखाना होगा, जो सेवा करके श्रान्त हो गया हो उस को आराम करने देना होगा। यह सब तभी होगा जब सब लोग अपने नागरिक कर्तव्यों को पहचाने और उन का पालन करें। नागरिक पर ही समाज अवलम्बित है। आज-कल की भाषा मे मनु के कथन का यही अर्थ है। घर मे रहने से गृहस्थ नही होता, गृही के कर्तव्यों का पालन करने वाला ही गृहस्थ है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः—"पत्नी-हीन पुरुष यज्ञ का अधिकारी नही होता।" रामचन्द्रजी को सीता की स्वर्णप्रतिमा बैठानी पड़ी थी। यज्ञ केवल उस कृत्य को नही कहते जिस मे मन्त्र पढ़ कर आग मे आहुति डाली जाती है। जो कोई भी काम शुद्ध बुद्धि से किया जाये वह यज्ञ हो सकता है परन्तु उत्कृष्ट यज्ञ वह है जो परार्थ किया जाये। भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय मे यज्ञ के कई प्रकार गिनाये गये है। यज्ञ तभी सम्पूर्ण होता है जब बलि दी जाये, निरीह पशुओ की नही वरन् अपने अधम स्व की, अपनी काम, क्रोध, लोभमयी प्रवृत्तियो की। इस बलि से जो शक्ति उत्पन्न होती है वही यज्ञ को सम्पन्न कराती है। वेद कहते है कि सृष्टि के आरम्भ मे जीवो के कल्याण के लिए देवों ने यज्ञ किया था। यह विश्व शिव-शक्ति का महायज्ञ है, इसलिए यज्ञ मे पति-पत्नी का योग होना ही चाहिए। दो शरीर परन्तु चित्त एक, संकल्प एक, लक्ष्य एक। तभी यज्ञ पूरा उतरता है। जहाँ तक यज्ञ-दृष्टि से संसारी कामो के करने की बात है, यह कौन नही जानता कि स्त्री ऐसे कामो मे अमूल्य सहायता दे सकती है। कान्तासम्मित रूप से, प्रेम से, भर्त्सना करती है, परामर्श देती है, उत्साह बढ़ाती है, चिन्ता बाँट लेती है। स्त्री का जीवन त्याग और तपस्या की कहानी है, वह

पुरुप को भी मूकभाषा मे यह पाठ पढ़ाती है। इसीलिए स्त्री को सह-धर्मिणी कहते है। न तो पुरुष के बिना स्त्री सर्वांगीण रूप से धर्मपथ पर आरूढ हो सकती है, न स्त्री के बिना पुरुष।

प्राचीन काल मे जब स्नातक विद्या प्राप्त कर के गुरुकुल से विदा होने लगता था तो उस को अन्य बातो के साथ गुरु यह आदेश भी देता था : प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी.—"प्रजातन्तु सन्तानोत्पादन के क्रम को, मत काटो।" जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वज सन्तति छोड़ गये वैसे तुम भी छोड जाओ। हम पहले दिखला चुके है कि पत्नी और सन्तान के बिना पुरुप तथा पति और सन्तान के बिना स्त्री अकृत्स्न, अपूर्ण है। मनुष्य के कई ऐसे गुण है जो समाज की व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक है परन्तु उन का विकास एकाकी नही हो सकता, कुटुम्ब के भीतर रह कर ही उन के पनपने का अवसर मिलता है। सब से अलग रह कर उदारता का अभ्यास नही हो सकता। दूसरो के लिए अपने सुख को छोड देना, दुर्वलो की शुश्रूषा करना, अशक्तो को शक्त बनाना, जो कुछ हो बाँट कर भोगना—इन की शिक्षा गृहस्थी मे ही मिलती है। आज-कल यह भाव बढ रहा है कि विवाह हो पर सन्तान न हो। यह भाव समाज के लिए घातक होगा। एक और बात है। दम्पती को प्रजापति और जगद्धात्री का काम करना है, परमात्मा जीवो की सृष्टि नही करता, अभाव से भाव नही उत्पन्न करता, न वह लीला के लिए, खेल देखने के लिए, जगत् का निर्माण करता है। जीव अनादि है। उन को अपने कर्मों के संस्कारो के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त करने है। फलभोग के अनुकूल जगत् बने बिना रह नही सकता। परमात्मा निमित्तमात्र है। न जाने कितने शरीरो मे भ्रमण करके किसी जीव के मनुष्य शरीर मे आने का योग उत्पन्न होता है। ऐसे शरीर को बनने के लिए दम्पती का, पिता-माता बनने को प्रस्तुत पुरुप और स्त्री का, होना अनिवार्य है। इन की सहायता के बिना जीव को मनुष्य-शरीर नही मिल सकता। पितृत्व, बाप-माँ होना, आकस्मिक

घटना नहीं है, वह तो बहुत बडा दायित्व है जो इच्छापूर्वक अपने ऊपर लिया जाता है। बच्चे के प्रसव से ही दायित्व समाप्त नही होता, उस को ऐसी शिक्षा-दीक्षा करनी है जिस से न केवल यह जन्म प्रत्युत आगे के लिए भी उस का जीवन सुधरे। माता-पिता को यह समझना है कि भगवान् ने हमारा बहुत बड़ा विश्वास कर के हम को यह थाती सौंपी है। हमारा धर्म है कि इसे उन्नत बना कर तब लौटायें। पिता अपने क्षेत्र मे प्रजापति, माता आद्यशक्ति है।

और फिर स्त्री को इस प्रकार जीवन निर्वाह करना है कि न केवल उस को प्रत्युत उस के पति को परम पुरुषार्थ, जीवन का चरम ध्येय, मोक्ष प्राप्त हो। दुर्गासप्तशती के अर्गलास्तोत्र मे पत्नी को तारिणीं दुर्गसंसार-सागरस्य—"दुस्तर संसारसागर से पार उतारने वाली" कहा है। सती इस जगत् मे ब्रह्मा की उत्कृष्टतम रचना है, वह भगवती पार्वती का स्वरूप है; पति, सन्तति, कुल, राष्ट्र को पुनीत करने वाली धर्म की चल प्रतिमा है; पति के लिए इस लोक और परलोक का सम्बल है; उस के चरणों पर देवों के भी सिर झुकते हैं।

इन्ही कर्तव्यों के पालन करने के लिए पिता ने लड़की को अपने घर पर तैयार किया था। पिता-माता के चारित्र्य और उपदेशों ने अब उस को इस योग्य बनाया है कि वह उन कृत्यो का बोझ अपने कन्धों पर ले जो पितृगृह मे रह कर नही उठाये जा सकते। कन्यादान मे पिता उस को उस पुरुष से मिलाता है जो उस की प्रतीक्षा कर रहा था, जो धर्मपथ पर उस का साथी होगा, जो भार एक से नही उठ सकता उस को दोनो मिल कर उठायेंगे। उपनयन के समय वर का दूसरा जन्म हुआ था। उस ने सहज सरल पथ को, उस स्वार्थमूलक पथ को जिस पर पशु भी चल सकता है, छोड़ कर धर्ममय, उत्सर्गमूलक जीवन बिताने का व्रत लिया था। उसी प्रकार कन्यादान कन्या की दीक्षा है। वह भी अब से इस कँटीले मार्ग की व्रती बनती है।

कन्यादान का यही महत्त्व है। यह बड़े दुःख की बात है कि समाज ने इसे भुला दिया है। जो लोग गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने जा रहे हैं उन को इस कदम के उठाने की गुरुता का बोध नही कराया जाता और वह बिना यह समझे हुए कि कितने बड़े दायित्व का बीड़ा उठाने जा रहे है विवाह को हँसी-खेल मान बैठते है।

विवाह की पद्धति कन्यादान पर समाप्त नही हो सकती। कन्या के पिता ने वर से प्रार्थना की कि वह कन्या को स्वीकार करे ताकि दोनों मिल कर गृहस्थधर्म को प्रशस्त करे और वर ने अपनी स्वीकृति दे दी। पर इतना ही पर्याप्त नही है। जब दो व्यक्तियो को मिल कर कोई काम करना है तो दोनो की स्वीकृति होनी चाहिए। सारे जीवन का सौदा है। जब दो प्राणी एक साथ रहेंगे तो दोनो को एक दूसरे का लिहाज़ करना होगा। एक को दूसरे के व्यक्तित्व का आदर करना होगा, दोनो को नियत सीमा के भीतर स्वतन्त्रता मिलनी होगी। स्वेच्छाचारिता बुरी चीज़ है परन्तु पराधीनता भी उतनी ही बुरी चीज़ है। सर्वं परवशं दुःखम्! जिन शर्तो पर पति-पत्नी को साथ रहना है उन की व्यवस्था पाणिग्रहण मे की गयी है। दोनो ओर से वचन प्रतिवचन होते है ताकि आगे चल कर स्नेह का धागा टूट न जाये। वर कन्या से कहता है ध्रुवं पश्य—"ध्रुव को देखो।" ध्रुव उन के निश्चल, अटल प्रेम का प्रतीक है। कन्या अश्म, पत्थर पर खड़ी होती है। यह पत्थर यह पुकार कर कहता है कि इन का सम्बन्ध पुरातन पहाड़ो के समान दृढ़ और स्थिर रहेगा। कन्या वर के साथ दासी के रूप मे नही जाती। वह उस के बराबर पद रखती है। उस की अनुचरा नही, सहकर्मिणी है, वर-पत्नी कहते है:

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समानो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥

(सूर्याविवाह प्रकरण, ऋ० १०।८५।४७)

"विश्वेदेव और अप अभिमानी देवता हम दोनो के हृदयों को सब

विषयों में प्रकाशयुक्त करें। मातरिश्वा, धाता और देष्ट्री ( सरस्वती ) हम दोनों की बुद्धियों को परस्परानुकूला बनायें।"

आपस के समझौते के साक्षी देवगण होते है। अन्त मे सप्तपदी आती है। अग्निदेव, जिन की वैदिक उपाधि ही व्रतपति है, वर-कन्या के नव-स्थापित सम्बन्ध को अपनी मुद्रा से अंकित कर के उन को पति-पत्नी बना देते है। हमारा आदर्श यह है कि इस सम्बन्ध को मृत्यु भी नही तोड़ सकती।

सारे कृत्य के अन्त मे उपस्थित लोगो से प्रार्थना की जाती है कि दम्पती को आशीर्वाद दें। जो शब्द सूर्या के विवाह के अवसर पर उच्च-रित हुए थे वही आज भी पढ़े जाते हैं :

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन ॥

"यह वधू सुमंगली, मंगलमयी है, इस को सब लोग साथ देखें और इस को सौभाग्य दे कर अपने-अपने घर लौट जायें।"

देवों और मनुष्यों के सामने, दोनों का आशीर्वाद पा कर, विवाह सम्पन्न हुआ।

देवगण मनुष्यों के अग्रज, बड़े भाई है। वह भी कभी मनुष्य थे। अपने उग्र तप और यज्ञसम्पादन के प्रसाद से आज जगत् का संचालन कर रहे है। अनिद्रभाव से वह मनुष्यो के चरित्र देखते रहते है। पुण्य-कर्मा को प्रोत्साहन देने, धर्ममार्ग से डिगते हुए को सहारा देने, विवेक की टिमटिमाती शिखा को स्नेहदान से उद्दीप्त करने मे वह अपने को धन्य मानते है। वह दण्ड भी देते है परन्तु उसी प्रकार जैसे माता और गुरु दण्ड देते है। उस दण्ड मे भी प्यार छिपा होता है। पितृगण हमारे पूर्वज है। वह चाहते है कि उन के वंशज सन्मार्ग पर चलें, यश के भागी हों, पितरो की कीर्ति का भी विस्तार करें। अधर्मी वशजों के कुकृत्य पितरो को ही नीचे गिराते है। ऋषियों ने हम को ऋत और सत्य की, चतुर्वर्ग

को प्राप्त करने की, शिक्षा दी है। स्वभावतः उन की यह इच्छा होगी कि उन का बताया मार्ग बन्द न हो जाये। ज्ञान की जो दीपशिखा उन्होंने प्रज्वलित की थी वह बुझने न पाये। जो मनुष्य अपने धर्म का अनुसरण करता है वह देवो, पितरो और ऋषियो को प्रसन्न करता है, उन्होंने मानव समाज पर जो उपकार किये है उन को दूसरो तक पहुँचा कर उन से उऋण होता है। ईश्वर सत्य, शिव और सुन्दर है, प्रेम और आनन्द-स्वरूप है। इसी लिए कन्यादान का प्राचीन संकल्प कहता है कन्या वर को 'धर्म्मप्रजासम्पत्त्यर्थं यज्ञापत्यर्थं' के साथ-साथ 'ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थं' दी जाती है। कन्या से धर्मप्रजा की सम्पत्ति और यज्ञ का सम्पादन होता है और इस से ईश्वर, देव, ऋषि और पितृ तृप्त होते है।

कहाँ यह उत्तुग मेरुशिखर और कहाँ वर्तमान काल! कितना पतन हुआ है। हिन्दू समाज के मर्मस्थानो को जैसे विषशलाका भेदन कर गयी है, ऊँचे आदर्शों तक आँख उठाने की हम मे क्षमता नही रह गयी। पिछले एक हजार वर्षो की राजनीतिक दासता का यह कड़वा फल है। यही आश्चर्य की बात है कि कुछ अवशेष रह गये है, जिन के सहारे हम फिर प्राचीन युग की खोई बातो का पता लगा सकते है।

कन्यादान-सम्बन्धी जो दुर्व्यवस्था हुई है उस का मुख्य कारण मेरी समझ मे दान शब्द का प्रयोग है। प्राचीन आचार्यो से यह भूल हो गयी। कभी-कभी ऐसी भूलो का बुरा परिणाम होता है। विज्ञान और दर्शन मे तो इस के उदाहरण भरे पड़े है। एक ही निदर्शन अलम् है। कभी किसी ने प्राण के लिए वायु शब्द का प्रयोग कर दिया। कुछ ऊपरी साम्य देख कर ही यह भूल हो गयी। बस, फिर उस भूल को सुधारना तो दूर रहा, जो आया ईट पर ईट रखता गया। पाण्डित्यपूर्ण मूर्खता से पुस्तकालय भर गये। नाड़ियो मे छिद्र ढूँढे गये, हवा भर कर कपाल फोडने वाले योगियो की कहानियाँ सुनी जाने लगी। कहाँ वह दिव्य शक्ति जो भौतिक और आध्यात्मिक अनेक रूपो से शरीर का सचालन कर रही है, जो

रसायन, भौतिकविज्ञान, चिकित्साविज्ञान और मनोविज्ञान का विषय है और इन सब से बाहर है, और कहाँ क्षुद्र हवा जो भूस्तत्त्व का एक भेद है ! ऐसी ही भूल दान के विषय मे भी हुई होगी । उस भूल का फल हम सब भोग रहे है । इतना ही नही, वट वृक्ष के समान भूल का कलेवर बढ़ता ही गया है ।

दान शब्द का व्यवहार प्रायः उस प्रसंग मे किया जाता है जहाँ किसी के कष्ट निवारणार्थ उसे कुछ दिया जाता है । अन्न, वस्त्र, भूमि का दान होता है, विद्यादान और अभयदान किया जाता है । किसी बराबर वाले मित्र को कुछ देना भले ही दान कहलाये परन्तु साधारणतः व्यवहार वही है जिस की ओर मै ने संकेत किया है । ऐसा दान शुद्ध निष्काम भाव से ईश्वरार्पण कर के दिया जा सकता है परन्तु बहुधा दान सकाम ही होता है । यह नही कि देने वाले दान पाने वाले से प्रत्युपकार की आशा रखते है परन्तु यह विश्वास रहता है कि कभी न कभी, कही न कही, किसी न किसी रूप मे, इस सत्कर्म का पुरस्कार मिलेगा । कर्म का सत्यसिद्धान्त कहिए, ईश्वर कहिए, नियति कहिए, कोई ऐसी शक्ति है जो भले-बुरे कामों का लेखा रखती है ।

यदि कन्या का दान हो सकता है तो इस दान से दाता को लाभ होना चाहिए । इस जन्म मे और इस शरीर से तो कोई प्रत्यक्ष लाभ होता नही । अतः पुण्य का संचय होता होगा । जब कर्ता दान करता है तो उसे पुण्य पर दृष्टि रखने का अधिकार तो है ही, न रखे यह उस की उदारता होगी । बार-बार कन्यादान की महिमा जतायी गयी है, कन्या का विवाह न करने के पाप की ओर संकेत किया गया है, इस से यह तो प्रतीत होता ही है कि काम बड़ा है । इस से पुण्य भी बडा होगा । अतः दाता के बीस-पचीस कुटुम्बी उस पुण्य मे भाग पा जाये तो अनुचित न होगा ।

तर्क की यह धारा ज्यो-ज्यो आगे बढी बुद्धि पीछे छूटती गयी ।

केवल एक झीनी-सी रेखा रह गयी। सप्तपदी के पहले वर के मर जाने पर कन्या के फिर से ब्याहे जाने की अनुमति बच रही। लड़की के घर का पानी पीना त्याज्य हो गया। जिस प्रकार भूमि या गऊ या कोई और दान पा कर ब्राह्मण दक्षिणा पाता है उसी प्रकार कन्यादान के बाद वर को भी दक्षिणा मिलने लगी। यह कोई नही देखता कि कन्यादान के इस रूप का शेष पद्धति से कहाँ तक सामंजस्य है। अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य का दान करना मानवता की मर्यादा से नीचे गिरना है। मनुष्य को पशु-पक्षी की भाँति देय वस्तु समझना पाप है। विवाह को वर-वधू और उन की सन्तति के हित का साधन न मान कर अपने हित का साधन मानना अनार्य है। संस्कार धर्म के विकास और प्रसार के लिए, नररूपी नारायण की सेवा के लिए किये जाते है, कर्ता के निकृष्ट स्वार्थ की सिद्धि के लिए नही। परन्तु इन बातों को कोई सोचता नही। मूर्ख और पण्डित सब आँख बन्द कर के लकीर पीटते चले जा रहे है।

एक गऊ कई ब्राह्मणो मे तो नही बाँटी जा सकती परन्तु कई मनुष्य मिल कर एक गऊ का दान कर सकते है। कुम्भस्नान और ग्रहण के अवसर पर तीर्थस्थानों मे यह दृश्य बराबर देख पड़ता है। ब्राह्मण गऊ लिये खड़ा रहता है। लोग उस की पूँछ पकड़ कर दान देते जाते है। सब को पुण्य मिलता ही होगा। इसी प्रकार एक-एक कन्या का कभी-कभी बीसों स्त्री-पुरुष दान करते है। मानना चाहिए कि सब के ही हाथ कुछ पुण्य लग रहता होगा।

मै किसी की श्रद्धा का उपहास नही करना चाहता परन्तु यह कहना चाहता हूँ कि इस श्रद्धा के लिए शास्त्रीय आधार नही है। पिछले एक सहस्र वर्ष हमारे लिए बुरे बीते है। राजनीतिक दासता जीवन को कृत्रिम बना देती है। स्त्रियो को इस काल मे प्रकृत्या संकुचित हो कर रहना पडा है, उन के व्यक्तित्व के प्रस्फुटित होने के अवसर कम मिले है। अतः समाज मे उन का स्तर गिरता गया। हम एक अवतरण पहले

दे चुके हैं जिस के अनुसार कन्या को गउओं, बैलों और घोड़ों से बदला जा सकता है। एक अन्य स्मृति में कन्या, जूता और छाता के दान का एक ही जगह उल्लेख किया गया है। यदि स्मृतिकार महोदय की दृष्टि मे स्त्रियो का आदर होता तो वह दूसरे श्लोक की रचना करते पर कन्या को इतना नीचे न गिराते।

अब इन बातों पर विचार करने का समय आ गया है। हमारे धर्म-कृत्यो और संस्कारों मे बहुत-सा प्रक्षिप्तांश मिल गया है, उस को निकाल कर दूर फेंकना ही श्रेयस्कर होगा। हमारे आदर्श और उन के दार्शनिक आधार प्राचीन परन्तु इस के साथ ही चिरनवीन है। उन मे स्फूर्ति देने की अद्भुत शक्ति है, उन के शुद्ध रूप का अवलम्बन करना हमारे लिए कल्याणकारी होगा।



# आधार-पुस्तकों की सूची

गृह्यसूत्र

१. मानव गृह्यसूत्र, अष्टवक्रभापासमेत
२. जैमिनि गृह्यसूत्र, श्रीनिवासी अध्वरिन्‌भाष्यसमेत
३. वाराह गृह्यसूत्र, गंगाधर और वशिष्ठ पद्धतियोसमेत
४. पारस्कर गृह्यसूत्र, हरिहर, कर्क, जयराम, गदाधर और विश्वनाथ के भाष्योंसमेत
५. लौगाक्षि गृह्यसूत्र, देवपालभाष्यसमेत
६. द्राह्यायण गृह्यसूत्र, रुद्रस्कन्द वृत्तिसमेत
७. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हरदत्त और सुदर्शनार्य्य भाष्यसमेत
८. आश्वलायन गृह्यसूत्र, हरदत्त मिश्र की अनाविलवृत्तिसमेत
९. कौषीतक गृह्यसूत्र, भवत्रातविवरणसमेत
१०. अग्निवेश्य गृह्यसूत्र
११. गोभिल गृह्यसूत्र
१२. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र
१३. खादिर गृह्यसूत्र, रुद्रस्कन्दभाष्यसमेत
१४. बोधायनीय गृह्यसूत्र
१५. वैखानस गृह्यसूत्र
१६. सांख्यायन गृह्यसूत्र संग्रह, वासुदेव विद्वद्वरविरचित

धर्मसूत्र

१. गौतम धर्मसूत्र, हरदत्त की मिताक्षरा वृत्तिसमेत

२. बोधायन धर्मसूत्र, गोविन्दस्वामी विवरणसमेत
३. वाशिष्ठ धर्मसूत्र

स्मृति

१. बृहस्पतिस्मृति
२. संवर्तस्मृति
३. वशिष्ठस्मृति
४. पराशरस्मृति, माधव भाष्यसमेत
५. यमस्मृति
६. मनुस्मृति, कुल्लूकभट्ट भाष्यसमेत
७. याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा टीकासमेत
८. नारदस्मृति

फुटकर

१. संस्कार गणपति, रामकृष्णकृत
२. कृत्यकल्पतरु, भट्ट लक्ष्मीधरकृत
३. वीरमित्रोदय, मित्रमिश्रकृत
४. दानक्रियाकौमुदी, गोविन्दानन्दकृत
५. हेमादि दान खण्ड
६. संस्कारपद्धति, भास्कर अभ्यंकरकृत
७. संस्कारविधि, स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत
८. हिन्दू किन्शिप, क० म० कपाडियाकृत
९. दि पोजिशन ऑव विमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, डॉ० आल्टेकरकृत
१०. ए शार्ट हिस्टरी ऑव विमेन, जे० एल० डेयर्सकृत
११. एन्शेण्ट ला, मेनकृत
१२. हिन्दू परिवार की मीमासा, हरिदत्त वेदालंकारकृत

